ॐ श्री परमात्मने नमः

अष्टदश अध्याय

गीता का अठारहवां अध्याय ही पूरी गीता का सार है। भगवान ने जब दूसरे अध्याय में उपदेश आरम्भ किया तो भूमिका के रूप में गीता में कही जाने वाली सभी बातों का उल्लेख करते हुए स्थित प्रज्ञ के विषय में विस्तार बताया।

हम सबकी आदर्श पुरुष के संदर्भ में एक-एक अपनी-अपनी परिकल्पना होती है। किसी के लिए आदर्श पुरुष वही है जो गृहस्थी के सभी कर्तव्यों का पालन करते हुए सबको प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता है, किसी के लिए आदर्श पुरुष समाज सेवा करने वाला है, कोई भगवान के स्मरण, उनके भजन में सुध-बुध खो देने वाली मीरा बाई सरीखी नारी को आदर्श मानता है, किसी के आदर्श सिया राम मय सब जग जानने वाले तुलसी हो सकते हैं। रामचरितमानस में आदर्श पुरुषों के लक्षण बताने के क्रम में संतों के स्वभाव के अनेक स्थानों पर वर्णन किया गया है। भगवान श्रीकृष्ण के मत में आदर्श पुरुष कौन है? भगवान ने उसे एक विशेष नाम दिया है - स्थित प्रज्ञ, अर्थात् जिसकी प्रज्ञा सदा स्थिर हो। स्थित प्रज्ञ योगी भी है, भक्त भी है, ज्ञानी भी है, गुणातीत भी है। भगवान ने स्थान-स्थान पर भक्त, ज्ञानी, गुणातीत के लक्षण जब-जब बताएं तो वे सब स्थित प्रज्ञ के लक्षणों से मिलते हुए पाए गए। फिर भगवान ने एक नया नाम क्यों दिया?

एक नया नाम देकर वे विशेषतः दो बातों पर बल डालना चाहते हैं। यदि वे भक्त, संत, ज्ञानी, संन्यासी, साधु आदि-प्रचलित नामों का व्यवहार करते तो हम इन बातों की अनदेखा कर जाते।

पहली बात तो यह है कि कर्म के प्रति भगवान बड़ा ही आग्रह है। साधु, भक्त, संन्यासी आदि शब्दों में संसार के त्याग की खनक मिलती है अतः गीता के आदर्श पुरुष के रूप में उन्होंने ऐसी छवि प्रस्तुत की कि

हम स्पष्ट समझ जाएं कि वह संसार के मध्य रह कर कर्म करने वाला ही है। दूसरी बात जो भगवान विशेष रूप से सिखाना चाहते हैं वह है अनासक्ति। वैराग्य शब्द में संसार त्याग की ध्वनि गूंजती है अत: स्थित प्रज्ञ के लक्षण बताने में उन्होंने वैरागी शब्द का व्यवहार न कर अनासक्त शब्द का प्रयोग किया।

जो व्यक्ति राग द्वेष से सर्वथा मुक्त होकर कर्म में लगा रहे वही व्यक्ति भगवान श्री कृष्ण का आदर्श है। ये दोनों मूल बातें है पकड़ने की। बाकी विस्तार तो बाद की बातें हैं कि कर्म कैसे हो, राग द्वेष से मुक्ति कैसे पाई जाए वगैरह-वगैरह।

इस प्रकार भगवान ने पहले लक्ष्य की छवि स्पष्ट करके दिखाई, फिर उसके विस्तार में जाते गए। प्रश्न से प्रश्न उभरते चले गए और उत्तर दिया जाता रहा। इस प्रकार तीसरे से पन्द्रहवें अध्याय में उपनिषदों के सारे सिद्धान्त समाते गए- अधिक व्यवहारिक रूप लेकर।

पन्द्रहवें अध्याय में गुह्यतम ज्ञान की समाप्ति कर देने के बाद फिर सोलहवें और सत्रहवें अध्याय को भगवान ने परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत किया। इन दोनों अध्यायों में तो गीता हमारे दैनिक कार्यक्रम में भी पूरी तरह उतर आई। और अब अठारहवें अध्याय में उन्हें उपसंहार करना है अत: पुन: वे सार रूप में सारे सूत्रों को प्रस्तुत करते हैं।

अठारहवें अध्याय में तीन बातें विशेषता से मालूम देती है - १. पहले के अध्यायों में कहीं कहीं कुछ बातें संक्षेप से कही गई थी, उन्हें अब विस्तार से बताते हैं, २. पहले कुछ बातें विस्तार से बताई गई थी उनका उपसंहार करने के लिए यहां संक्षेप में उनका उल्लेख करते हैं, ३. पहले बताई गई बातों को ही कुछ दूसरे ढंग से यानी प्रकारांतर से भगवान बताते हैं ताकि कहीं शंका रह न जाए।

इस प्रकार भगवान के अधरों से निकले ये शब्द हमें जीवन का सत्य भी बताते हैं और जीवन की कला भी। अर्जुन की भांति यदि हम भगवान से प्रेम करना सीख पाएं तो गीता का यह गान हमारे जीवन को अवश्य सुमधुर बनाएगा। भगवान श्री कृष्ण की वंशी से जो स्वर निकलते थे वे जीवन के सुर हैं। ये हमें इन मनहूस, अमंगल मालूम देते संसार के बीच ही दिव्य जीवन

जीना सिखाते हैं। भगवान श्री कृष्ण हमें सृष्टि को नहीं दृष्टि को बदलने की प्रेरणा देते हैं- अपने कर्मों से भी और अपने उपदेशों से भी। आइए, गीता में पढ़े गए उपदेशों को अपने जीवन में उतारने का संकल्प लेते हुए हम इस अठारहवें अध्याय के माध्यम से पूर्ण गीता का सिंहावलोकन करें।

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।।१।।

अर्जुन ने कहा-हे महाबाहो! हे ऋषिकेश! हे केशिनी सूदन! मैं संन्यास और त्याग का तत्व अलग-अलग जानना चाहता हूं।

अठारहवें अध्याय का आरम्भ अर्जुन के प्रश्न से होता है। गीता में स्थान-स्थान पर संन्यास और त्याग शब्द का प्रयोग हुआ है और इनके बारे में काफी कुछ कहा गया है। सार रूप में कहें तो संन्यास का अर्थ कर्मों को स्वरूपत: छोड़ना और त्याग का अर्थ कर्मों के फल को छोड़ना है।

इस प्रकार की जड़ें द्वितीय अध्याय के उन्तालीसवें श्लोक में जमी हुई है जिसमें भगवान ने कहा था 'एषा ते भिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।'। उन्होंने दो निष्ठाएं बताई - एक सांख्य योग और दूसरी बुद्धियोग। सांख्य योग साधारणत: ज्ञान योग और बुद्धियोग कर्म योग के नाम से जाना जाता है। गीता में दोनों के बारे में काफी कुछ कहा गया है। ज्ञान योग की परिपक्वता संन्यास के रूप में प्रकट होती है और कर्म योग की परिपक्वता कामना के पूर्ण त्याग में। दोनों का परम फल एक ही है, यह समझ जाने के बाद अर्जुन को जिज्ञासा हो रही है कि स्पष्ट रूप से दोनों का भेद भी जान जाए।

यदि दो रास्ते एक ही बिन्दु पर जाकर पहुंचते लगते हैं यानी लक्ष्य रूप से एक ही बताए जा रहे हैं तो स्वाभाविक ही मन में प्रश्न उठेगा- फिर इनमें भिन्नता कहां-कहां है?

संन्यास किसे कहते हैं? संन्यासी कैसा होता है? उसका भाव, उसका आचरण कैसा होता है? उसके साधन क्या-क्या हैं? इसी प्रकार, त्याग किसे

कहते हैं? त्यागी कैसा होता है? उसका भाव, उसका आचरण कैसा होता है? त्याग के साधन क्या-क्या है? किस बिन्दु पर त्याग और संन्यास मिलते हैं, इन सब बातों को विश्लेषणात्मक ढंग से समझने से ही सारे संशय दूर हो सकते हैं और हम अपना मार्ग सुनिश्चित कर सकते हैं।

अर्जुन बार-बार संन्यास और त्याग शब्द सुन रहा था और उसके मन में इन दोनों शब्दों को तुलनात्मक ढंग से समझने की इच्छा हो रही थी पर एक के बाद एक विषय खुलते गए और उसे अवसर नहीं मिला। अब जाकर उसे मौका मिला है अत: वह पूछता है- हे महाबाहो। हे ऋषिकेश! हे केशिनी सूदन! आप दोनों के तत्व को अलग-अलग बताइए। भगवान के लिए लगातार तीन सम्बोधनों का प्रयोग उसकी व्यग्रता को स्पष्ट करता है जैसे बहुत देर भटकने के बाद कोई मिलेगा तो हम पूछेंगे- 'ओ बाबू, ओ भैया, जरा बता दो न यह रास्ता किधर जाएगा?'

अर्जुन की जिज्ञासा के बारे में भगवान पहले अन्य विद्वानों के मत बताते हैं:-

श्री भगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदु: ।
सर्व कर्म फल त्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा: ॥२॥
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मुनीषिण: ।
यज्ञ दानंतप:कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

श्री भगवान बोले-कई विद्वान काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास कहते हैं और कई विद्वान सम्पूर्ण कर्मों के फलों के त्याग को त्याग कहते हैं।

कुछ मनीषी कहते हैं कि कर्मों को पूरी तरह छोड़ देना चाहिए और कई विद्वान कहते है कि यज्ञ, ज्ञान, तप रूप कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दोनों श्लोकों में संन्यास और त्याग के विषय में चार विभिन्न प्रकार के विद्वानों के मत बताए गए हैं।

संन्यास के सम्बन्ध में कुल तीन मत बताए।

१. सभी कर्मों को दोषयुक्त मान कर छोड़ दें।

२. केवल कामना जनित कर्मों को छोड़ें।

३. यज्ञ दान तप इत्यादि सात्विक कर्मों को कदापि न छोड़ें।

इन तीनों को समझने के लिए यह जरूरी है कि हम समझें कर्म कितने प्रकार के होते हैं:-

१. नियत कर्म:- शास्त्रों में जिन्हें करने योग्य कर्म बताया गया है उन्हें नियत कर्म कहते हैं। इसके अन्तर्गत निम्न प्रकार के कर्म आते हैं।

क. नित्य कर्म:- प्रतिदिन किए जाने वाले अपने जीवन के लिए आवश्यक दैनिक कृत्य, उपार्जन आदि।

ख. नैमित्तिक कर्म:- विशेष अवसर, त्यौहार, विवाह, तथा अन्य संस्कार के समय किए जाने वाले विशेष कर्म।

ग. कर्तव्य कर्म:- माता पिता, पत्नी, पुत्र, समाज आदि के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिए किए गए कर्म।

२. पारमार्थिक कर्म:- जिन कर्मों में अपने स्वार्थ का ध्यान न हो कर परहित या लोकहित की भावना हो। निष्काम भाव से किये गए यज्ञ, तप, दान आदि इसी श्रेणी में आते हैं।

३. काम्य कर्म:- किसी विशेष कामना की पूर्ति के लिए किए गए कर्म, पूजा, अनुष्ठान इत्यादि।

४. निषिद्ध कर्म:- जो किसी भी दृष्टि से करने योग्य नहीं है जैसे चोरी, हिंसा इत्यादि।

कुछ विद्वान कहते हैं कि सभी प्रकार के कर्म या तो फलासक्ति या कर्मासक्ति द्वारा बन्धन पैदा करते हैं अत: सभी को छोड़ देना परम लक्ष्य मानना चाहिए। कुछ कहते हैं कि नित्य नैमित्तिक कर्म तो करने ही होंगे हम केवल काम्य कर्मों का त्याग करें। कुछ इस बात पर विशेष आग्रहवान नहीं है कि हम दूसरे कर्म करते हैं या नहीं पर इस बात पर उनका दृढ़ मत है कि पारमार्थिक कर्म यानि यज्ञ तप दान आदि का त्याग तो सर्वथा अनुचित है।

इस प्रकार संन्यास के सम्बन्ध में तो ये तीन मत बताए गए हैं पर त्याग के विषय में मत भेद नहीं है। सभी विद्वानों का मानना है कि सभी कर्मों के फल के त्याग को ही वास्तविक त्याग माना जाना चाहिए।

गीता में बार बार फल त्याग की बात शुरू से ही कही जा रही है। यहां पर भगवान उपसंहार के रूप में फिर उन्हीं बातों को कुछ भिन्न परिप्रेक्ष्य में दुहरा रहे हैं। एक बात फिर स्पष्ट समझ लें कि फल त्याग का आशय फल की कामना के त्याग से है। फल का स्वरूपत: त्याग तो हो ही नहीं सकता। वह तो सृष्टि के विधान के अनुसार कर्म के पीछे पीछे लगेगा ही। व्यापारी के लिए लाभ और घाटा दोनों ही व्यापार के फल हो सकते हैं। न वह घाटे का त्याग कर सकता है, न उससे लाभ का त्याग करने की उम्मीद की जा रही है। उसके लिए करने का यही है कि हानि लाभ सबमें समत्व धारण करे। लाभ के प्रति अत्यधिक आग्रह, आसक्ति न रखे। इससे हानि के प्रति भी समता स्वयमेव आ जाएगी। कर्म को तो अपना अधिकार मानते हुए उसे तो अच्छी से अच्छी तरह करने का प्रयत्न करें और फल जैसा भी हो उसे ईश्वर प्रदत्त मानकर स्वीकार करना ही फल का त्याग है।

अब एक प्रश्न और उठता है। जैसे संन्यास के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के कर्मों को करने या न करने का निर्देश दिया गया वैसे फल त्याग के विषय में क्यों नहीं कहा गया? उसके लिए 'सर्व कर्म' शब्द का व्यवहार क्यों किया गया?

बात यह है कि फल त्याग की बात कहते ही बहुत से कर्म की बुनियाद ही ढह जाती है। निषिद्ध कर्म तो करने के हैं ही नहीं, काम्य कर्म भी फल त्याग कर करना संभव है नहीं, वे तो किए ही जाते हैं फल विशेष के लिए। नित्य और नैमित्तिक कर्मों में भी बहुत से कर्म फल त्याग की कसौटी पर कसते ही हवा में उड़ जायेंगे। अत: कर्म करने के पहले तो यह देखें कि जो कर्म हम करने जा रहे हैं उसे फल त्याग पूर्वक संभव है भी या नहीं। इससे बहुत से कर्म त्याज्य समझ में आने लगेंगे। केवल शुद्ध सात्विक कर्म ही बचे रहेंगे। उन्हें भी अनासक्ति पूर्वक, अहंकार का त्याग करके करना ही त्याग है।

इस प्रकार त्याग और संन्यास के विषय में विद्वानों के मत बताने के बाद अब भगवान अपना मत बताएंगे। पहले वे त्याग के विषय में बताते हैं।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।।४।।

हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन! तुम त्याग के विषय में मुझसे निश्चय पूर्वक सुनो। हे नरश्रेष्ठ, त्याग तीन प्रकार का बताया गया है।

गीता में सर्वत्र तीन प्रकार के गुणों के अनुरूप तीन प्रकार की श्रद्धा, आहार, तप, दान, यज्ञ आदि बताए हैं उसी प्रकार त्याग भी सात्विक राजसी और तामसी, तीन प्रकार का होता है। जिस प्रकार सात्विक श्रद्धा ही सच्चे अर्थों में श्रद्धा है, सात्विक यज्ञ तप दान ही सही अर्थों में करणीय कर्म है उसी प्रकार त्याग भी सात्विक ही होना चाहिए। भगवान राजसी और तामसी त्याग की बात भी इसलिए करेंगे क्योंकि कभी-कभी हम अपने आप को बड़ा त्यागी समझ लेते हैं, अपने को महान समझने लगते हैं जब कि वास्तव में वैसी कोई बात होती नहीं। भगवान ऐसे त्याग को राजसी तमसी बताकर उनका पूरा विश्लेषण कर देंगे ताकि हम अपने शुभ-अशुभ कर्मों और उनके परित्याग के पीछे जुड़ी विभिन्न भावनाओं को समझकर अपने आप का सही-सही मूल्यांकन कर सकें। जब तक हम अपनी निकृष्टता की पहचान ठीक से नहीं करेंगे तब तक उत्कृष्टता की प्राप्ति संभव नहीं।

भगवान अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं:-

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।५।।

यज्ञ, दान और तप रूपी कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए। उन्हें तो करना ही चाहिए क्योंकि यज्ञ, दान और तप ये तीनों ही मनीषियों को पवित्र करने वाले हैं।

यहां भगवान ने उन विद्वानों के मत की ही पुष्टि की है जो यह कहते हैं कि यज्ञ, दान, तप का त्याग नहीं करना चाहिए। ऐसे विद्वानों के मत से अधिक बात इन्होंने अपनी ओर से यह कही है कि अब तक न भी कर रहे हों तो समझ लें कि अब करने का निश्चय अवश्य कर लेना चाहिए। इसका कारण भी स्पष्ट किया है- यज्ञ, दान, तप से ही पवित्रता आती है।

वास्तव में कर्म के परित्याग की सलाह देने वालों के पास तर्क यह रहता है कि कर्म बंधनकारी है। हर कर्म पूर्ण होने के बाद संस्कार रूप से कुछ वासना हमारे चित्त में छोड़ देता है। हमें उस कर्म से मिलने वाले फल से और कभी-कभी कर्म मात्र से इतना राग या द्वेष हो जाता है कि हम बार-बार उसे करने या न करने के आग्रह से बंध जाते हैं। यही फलासक्ति या कर्मासक्ति है। मैं अमुक फल के लिए कार्य करूंगा वर्ना नहीं करूंगा-यह फलासक्ति है। मैं सेवा का कार्य भी करूंगा तो अस्पताल बनवाकर ही करूंगा, गौशाला बनाकर नहीं- यह कर्मासक्ति है और दोनों बंधनकारी है। अतः कुछ लोग समझ लेते हैं कि कर्म करना ही त्याग देना चाहिए।

भगवान का कर्म के प्रति प्रबल आग्रह गीता में सर्वत्र है। वे हर वक्त इस बात का ध्यान रखते हैं कि उनके किसी भी वक्तव्य से कोई भ्रमवश कर्म त्याग को गौरवशाली न मान बैठे। इसके लिए दूसरे अध्याय में उन्होंने कहा था **कर्मजं बुद्धियुक्ता ही फलं त्यक्तत्वा मनीषिण** (अर्थात् समता रूपी बुद्धि योग में स्थित मनीषी कर्मजन्य फल को त्यागते हैं। इसके बाद तीसरे अध्याय में भी यज्ञ के विषय में अत्यन्त विस्तार से बताते हुए कहा था- **यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोयं कर्मबन्धनः** अर्थात् यज्ञ कार्य छोड़कर दूसरे कार्य बन्धन कारी है। इस प्रकार यज्ञ कर्म के लिए प्रेरित किया। फिर चौथे अध्याय में कर्म संन्यास के विषय में बहुत ही विस्तार से बताया और तब भी कहा कि कर्मों को नहीं उसमें अपने कर्तृत्व भाव का त्याग करना है।

यहां भी फिर विषय आया तो भगवान फिर स्पष्ट कर देते हैं कि परमार्थिक कर्म को छोड़ने का निर्णय लेना अविद्वता है। वे कहते हैं कि ये कर्म हमें पवित्र करते हैं। हमें अपवित्र करने वाली वासनाएं। वासनाओं का मल हमारे सच्चिदानंद स्वरूप को आच्छादित कर देता है, हम अपनी दिव्यता को पहचान नहीं पाते और अपने को 'हारा गम का मारा इंसान' समझते रहते हैं।

भगवान का तर्क यह है कि कर्म जब ममत्व, स्वार्थ और अहंकार के साथ किए जाते हैं तभी वे वासना के मैल को जन्म देते हैं। यदि हम कर्मों का स्वरूपत: त्याग कर देंगे तो नई वासनाएं न भी हो तो पुरानी तो रहेंगी ही और हमारी दिव्यता आच्छादित ही रह जायेगी। परन्तु हम अपनी वर्तमान वासनाओं के अनुकूल कार्य करें पर ऐसी बुद्धिमानी पूर्वक करें कि फलासक्ति न हो तो वे वासनाएं समाप्त हो जाएगी और नई भी उत्पन्न नहीं होंगी। इस प्रकार वासना के मैल का दूर होना ही पवित्रता है और इसका सर्वश्रेष्ठ साधन निष्काम कर्म हैं।

यज्ञादि कर्म पवित्र करने वाले हैं अत: इन्हें तो करना ही चाहिए यह बात तो समझ में आ गई, पर अन्य कर्म? भगवान अगले श्लोक में अन्य कर्मों को करने का संकेत भी देते हैं और सभी कर्म किस भावना से चाहिए यह भी बताते हैं:-

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।६।।

हे पार्थ! इन्हें तथा अन्य कर्मो को भी अनासक्ति तथा फल त्याग की भावना से करना चाहिए यह मेरा निश्चित मत है।

भगवान इन श्लोकों में उस कर्मयोग की ही बात जरा दूसरे ढ़ंग से कर रहे हैं जिसका उन्होंने दूसरे से पांचवे अध्याय तक विस्तार किया था। पिछले श्लोक में उन्होंने केवल इतना कहा था कि यज्ञादि कर्म जरूर करने चाहिए क्योंकि ये पवित्र करने वाले हैं। इस श्लोक में उन्होंने विस्तार किया है कि किस भावना से करने पर हमारे कर्म आत्म शुद्धि का माध्यम बन सकते हैं। भगवान कहते हैं कि संग और फल को त्याग कर ही कर्म करना है। कोई भी कर्म जब हम करते हैं तो हमारी दृष्टि दो प्रकार की हो सकती है। एक तो यह कि हमारा ध्यान कर्म पर ही घनीभूत रहे। हमारी एकाग्रता उसे उत्कृष्टतम बनाने के लिए केन्द्रित रहे। ऐसी दृष्टि रखेंगे तो कर्म अच्छा ही होगा ही और कर्म की उत्कृष्टता हमें तत्काल आनन्द देगी। हमने कार्य

अच्छा किया यह खुशी हमें उसी वक्त मिल जाएगी। आनंद के लिए फल की प्रतीक्षा नहीं करनी होगी। यह वर्तमान में जीना है।

दूसरी दृष्टि उनकी होती है जिनकी नजर हमेशा फल पर होती है। इनका ध्यान कर्म की उत्कृष्टता निकृष्टता पर भी अधिक नहीं रहता। फल क्या होगा यह कर्म करते वक्त निश्चित तौर पर बताया तो नहीं जा सकता पर ये लोग अनुमान लगाते रहते हैं। कर्म में त्रुटि समझ भी आ रही हो, ऐसा लग रहा हो कि जो मशीन हमने बनाई है उसमें कुछ खामी है पर 'खरीददार पैसे देने को तैयार बैठा है तो मुझे क्या!' उत्कृष्ट कर्म का विशेष लाभ होने की उम्मीद नजर न आ रही हो तो वे उसके लिए जरा भी 'तकलीफ' मोल नहीं लेंगे। वैसे भी जो व्यक्ति दो तिहाई समय भविष्य में जीता है वह वर्तमान में उत्कृष्ट कर्म कर ही कैसे पाएगा? कर्म के आनन्द से तो वह वंचित होगा ही, भविष्य भी उसका पहले वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक सुनहला कैसे हो सकता है?

अत: हर बात को लाभ-हानि के तराजू में तौलने वाले व्यक्ति भी स्पष्ट समझ ले कि भगवान की सलाह मान कर वे घाटे में नहीं रहेंगे। इसके विपरीत चलकर फायदा कभी-कभी नजर तो आ सकता है पर वह भ्रम ही साबित होगा। इस प्रकार **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** की बात ही भगवान अब अठारहवें अध्याय में उपसंहार के तौर पर कह रहे हैं।

यहां भगवान की भाषा में कुछ बातें ध्यान देने की है। एक तो 'करना चाहिए' कहने के लिए 'कर्त्तव्यान् इति' शब्दों का प्रयोग। कर्त्तव्य वे कर्म हैं जिन्हें हम कर सकते हैं और अवश्य करने ही चाहिए। कर्त्तव्य को न करना भी पाप है। कर्मों के करने के लिए कर्त्तव्य शब्द के व्यवहार से भगवान का आग्रह स्पष्ट होता है कि फल त्याग कर कर्म करने चाहिए और जरूर ही करने चाहिए। भगवान चाहते हैं कि कोई यह न समझ बैठे कि निष्काम कर्म करना तो बहुत अच्छी बात है, पर न करो तो कोई बुरी बात नहीं। या फिर कोई यह भी न समझे कि फलासक्ति त्याग कर कर्म कर सकते हो तो करो वर्ना मत करो। ये दोनों बात यदि मन को समझ में आने लगती है तो साधारण मानव सोचेगा- कर्म ही छोड़ दें, वही अच्छा।

दूसरी बात ध्यान देने की है कर्माणि के पहले, एतानि अपि यानी 'इन्हें भी' शब्दों का प्रयोग। यज्ञ, तप, कर्म आदि के संदर्भ में जब हम 'भी' का प्रयोग करते हैं तो स्पष्ट है कि इनके अलावा और भी कर्म है जिन्हें भी इसी भावना से करने की अनुशंसा की जा रही है। ये 'और भी' कर्म हैं- नियत कर्म, जो अगले श्लोक में स्पष्ट हो जाएगा।

भगवान ने अपने मत को निश्चितम् ही नहीं उत्तमम् भी बताया है। इस मत में कहीं कोई कमी, कोई सुराख नहीं है।

भगवान जब कहते हैं कि फल का अधिकार तुम्हारा नहीं (मेरा) है। कर्म का अधिकार तुम्हारा है अतः तुम फल त्याग कर कर्म करो, तब उनका आशय यही है कि तुम अपने करने का काम करो मैं अपने करने (फल देने) का काम बखूबी जानता हूं। मैं अपने अधिकार क्षेत्र में रहता हूं तुम अपने अधिकार क्षेत्र में रहो।

इस प्रकार समझ लें और भगवान की न्यायप्रियता पर विश्वास रखें तो फल का ध्यान छोड़ना अधिक मुश्किल नहीं होगा। कभी-कभी यदि हमें लगने लगे कि हमने बहुत कर्म किए कुछ फल नहीं मिला और पड़ोसी ने थोड़ा सा कर्म किया पर उसे बहुत फल मिला तो ऐसे में श्रद्धा का सहारा लें। हम तो बहुत सीमित दृष्टि वाले हैं, वर्तमान के भी एक ही पहलू को देख पाते हैं किन्तु भगवान तो त्रिकालदर्शी हैं और हर पहलू को देखते हुए फल निर्धारण करते हैं। उनकी फल निर्णायकता पर श्रद्धा रखेंगे तो जीवन में हर कदम पर हिम्मत मिलेगी और उनकी निर्णायकता पर श्रद्धा दृढ नहीं होगी तो चरमराई हुई सीढ़ी हमें जीवन में सम्बल कभी प्रदान नही कर पाएगी, हम सुमार्ग पर खड़े ही नहीं रह पाएंगे।

अब वे तीन प्रकार के त्याग की बात बताते हैं। सबसे पहले उन्होंने तामस त्याग का प्रकरण लिया है।

नियतस्य तु सन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।७।।

नियत कर्मों का स्वरूप से त्याग (संन्यास) उचित नहीं है इसलिए

मोह के कारण उसका त्याग कर देना तामस कहा जाता है।

पिछले श्लोक में भगवान् ने 'नियत कर्म' शब्द का व्यवहार किए बिना केवल संकेत दिया था कि यज्ञ तप दान के अलावा और भी कर्म हैं जिन्हें उनके मत में फल त्याग की भावना से ही कना चाहिए। इस श्लोक में जब वे कह रहे हैं कि नियत कर्मों का त्याग उचित नहीं है तो पिछले श्लोक का भाव भी स्पष्ट हो जाता है।

नियत कर्म के अन्तर्गत नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म और कर्तव्य कर्म आते हैं। हम सब देहधारी हैं इसलिए देह को अनदेखा करके जीना सम्भव नहीं है अत: देह के लिए आवश्यक श्वास क्रिया, भोजन, सफाई आदि के कर्म हमें करने ही होंगे। जब ये कर्म करने जाते हैं तो कुछ स्वयं उपार्जन करना पड़ता है, कुछ हमें अनायास ही, बिना प्रयास के ही, बिना किसी के दिए ही अपने आप प्राप्त हो जाता है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त वायु, धूप, वर्षा आदि का लाभ हमें मिलता है, समाज द्वारा बनाई गई सड़कों आदि पर हम चलते हैं। कैसा भी बड़ा से बड़ा त्यागी संन्यासी क्यों न हो, वह किसी न किसी का लाभ अवश्य उठाता है अत: ऋणी हो जाता है सबका वह। और कुछ नहीं, केवल श्वास भी लेने वाला प्रकृति का ऋणी है और यह ऋण उसे किसी न किसी रूप में चुकाना ही चाहिए। परिवार के बीच रहने वाले हम गृहस्थ तो कितना ऋण लेकर अपने पैरों पर खड़े होने लायक बनते हैं जिसका कोई हिसाब ही नहीं रखा जा सकता। अत: परिवार को, समाज को, प्रकृति को हमारे पुरुषार्थ का भी योगदान मिलना ही चाहिए। ये नैमित्तिक और कर्त्तव्य कर्म वास्तव में ऋण चुकाने की क्रिया है और इससे भागना अपनी मूर्खता, हमारी मूढ़ता है। यदि सब इस प्रकार लेने वाले हो जाएं और देने की बात न सोचें तो सृष्टि का संतुलन कायम रह ही नहीं सकता। इसीलिए भगवान कह रहे हैं कि नियत कर्मों का त्याग उचित नहीं है।

किन्तु समाज में बहुतेरे ऐसे व्यक्ति मिल जाएंगे जो इस विशाल सृष्टि, इस समाज, अपने परिवार, यहां तक कि अपने देह की आवश्यक स्वच्छता आदि से भी उदासीन हो जाते हैं और मजे की बात यह कि वे इसे कर्तव्य च्युतता भी नहीं समझते हैं। वे समझते हैं कि हम बड़े त्यागी हैं। भगवान

कहते हैं- वे बड़े मूढ़ हैं वे पक्के तामसी हैं। इस त्याग को भगवान हेय दृष्टि से देखते हैं, कोई मोल नहीं उनकी नजरों में इस त्याग का। अर्जुन ने भी मोह वश ही रणभूमि को त्याग कर भिक्षाटन पर निर्वाह करने को श्रेष्ठ माना था और भगवान् ने उसे नपुंसक और प्रज्ञावादी कह कर प्रतारणा की थी। उसे बताया था कि तुम धर्मच्युत भी माने जाओगे, अपयश के भी भागी बनोगे और पाप के भी फल को भोगना पड़ेगा।

घर बार छोड़ छाड़ कर 'साधु' बनने के स्वप्न देखने वाले, दस सदस्यों के परिवार के लिए उपार्जन की क्षमता रखते हुए भी गृहत्याग को गौरवशाली कृत्य समझने वाले अच्छी तरह जान लें कि यह उनका तामसी कृत्य कहलाएगा जो चौदहवें अध्याय के अनुसार अधोगति को ले जाने वाला होगा। त्याग का गौरवशाली फल चाहते हैं तो देखना होगा भगवान कैसे त्याग को उत्तम त्याग कहते हैं।

भगवान् ने इस श्लोक में जो बात कही है वैसी बात तीसरे अध्याय के आठवें श्लोक में भी की थी- **नियतं कुरु कर्मत्वं,** जिसका अर्थ था- नियत कर्मों को करो क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।

अब भगवान राजसी त्याग के विषय में बताते हैं:-

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।।८।।

कर्म को दुख रूप मानकर, शारीरिक कष्ट के भय से जो कर्मों का त्याग करता है वह ऐसा राजस त्याग करके त्याग के फल को किसी प्रकार प्रकार भी नहीं पाता।

चौदहवें अध्याय में जब भगवान ने तीनों गुणों की चर्चा की थी तब ही बताया था कि तमस मूढ़ता, मोह, अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है, रजस का कारण भौतिक शरीर तथा भोगों के प्रति राग है। तमस का फल अधोगति बताई है और रजस को मध्य का स्थान दिया। रजस को न को ऊंचा फल

मिलता है न नीचा।

अब यहां अठारहवें अध्याय में त्याग के संदर्भ में भी भगवान वैसी ही बात कर रहे हैं। तामसी त्याग करने वाले तो मूढ़ या अज्ञानी हैं। अज्ञान या भ्रमवश वे उस त्याग को उच्च कर्म समझकर उसमें प्रवृत्त होते हैं किन्तु राजसी त्याग करने वाले शरीर के सुख आराम को महत्व देने के कारण कर्म का त्याग करते हैं।

राजसी व्यक्तियों को मालूम है कि उन्हें अमुक कर्म करना चाहिए। यदि सरलतापूर्वक वह कर्म हो सके तो वे जरूर करेंगे लेकिन यदि उसके कारण शारीरिक कष्ट उठाना पड़े तो वे उस कर्म का त्याग कर देंगे। वे संसार के सामने अपने को त्यागी के रूप में प्रस्तुत करने की कितनी ही कोशिश कर लें, भगवान ने तो स्पष्ट कह दिया है, इस त्याग का कोई फल वे देने वाले नहीं हैं।

उदाहरण स्वरूप- सभी जानते हैं कि आज के युग में धन कमाना कोई आसान बात नहीं है, बहुत मेहनत करनी पड़ती है। 'क' साहब कहते हैं- धन तो दु:ख रूप है। मैं तो संतोषी हूं। मुझे तो धन नहीं चाहिए। रूखा-सूखा खाने मिले तो वही सही, शांति से पड़े तो हैं। ये जनाब अपने को संतोषी और धन का त्यागी बताते हैं पर सच तो यह है कि आप आराम का त्याग नहीं करना चाहते। यदि छप्पर फट कर धन आ जाए तो क्या आप उसे दु:ख रूप मान कर गरीबों में बांट देंगे?

कोई दूसरा समझे या न समझे, भगवान आपकी भावना को खूब जानते हैं। वे आपकी दिखावे वाली बातों के चक्कर में आने वाले नहीं हैं त्याग का फल आपको नहीं मिलने वाला। त्याग का फल होता है आत्मशुद्धि। जब हम किसी वस्तु का त्याग करते हैं तो उससे अपनी अहंता ममता हटा लेते हैं। जिसे अपनी वस्तु मान रहे थे उसे एक क्षण बाद दूसरे की मान लेते हैं। इस प्रकार अहंता ममता हटने से वासना कम होगी यानी मल दूर होगा। त्याग की भावना और भोग की भावना (वासना) दो बिल्कुल विपरीत बातें हैं जो एक साथ टिक नहीं सकती। हम वासना रखते हुए त्याग की बात करें या त्याग का दिखावा करें तो उससे मैल कैसे दूर होगा? उससे तो शुद्धि की जगह विकृति होगी।

अंत में सात्विक त्याग की बात कहते हैं:-

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।९।।

'कर्म करना ही कर्तव्य है' इस भाव के साथ नियत कर्म करते हुए आसक्ति और फल का त्याग करना ही सात्विक त्याग है।

यज्ञ, तप और दान को फलेच्छा त्याग कर करने की बात तो भगवान पांचवें और छठे श्लोक में कह चुके हैं अब नियत कर्मों की भावना क्या होनी चाहिए यह बता रहे हैं।

कर्म त्याग की बात तो सपने में भी न सोचें । कर्म तो करना है, करना ही है, एकदम आवश्यक समझकर करना है। कर्म करना मेरा कर्तव्य है, यह मानते हुए करना है और कर्म में संग यानी कर्मासक्ति भी नहीं रखनी, न फलासक्ति रखनी है। मैं यही कर्म करना चाहता हूं या इस कर्म का यह फल पाना चाहता हूं दोनों ही विचार न रहें।

आसक्ति का अर्थ है मैं+मेरा, और फलेच्छा का अर्थ है- मुझे चाहिए। मैं, मेरा और मुझे चाहिए, ये तीनों बड़े गहरे मित्र हैं, सदा साथ-साथ रहना पसन्द करते हैं। आसक्ति वहीं रहती है जहां फल की कामना हो अत: निकालना है तो सबको साथ-साथ निकालना होगा। तब हम त्याग के फल यानी आत्मशुद्धि को प्राप्त कर पाएंगे। उदाहरण स्वरूप एक अत्यन्त ही साधारण कर्म ले लें- शरीर की सफाई। अब देखें कि संग और फलेच्छा रखने वाले व्यक्ति का व्यवहार कैसा है और निष्काम निस्संग का व्यवहार कैसा।

आसक्त पुरुष सोचेगा- यह मेरा शरीर है। इसकी सुन्दरता से मेरा व्यक्तित्व निखरेगा, मैं सबसे श्रेष्ठ, सबसे आकर्षक दिखाई दूंगा। पार्टी में सबसे चमकदार सितारा मुझे ही रहना चाहिए। सबकी नजरों में मेरे प्रति प्रशंसा का भाव रहना चाहिए। पचास वर्ष की आयु में भी मुझे तीस का नजर आना चाहिए। इन फलेच्छाओं के साथ वह भांति-भांति के सौन्दर्य प्रसाधन, भाप स्नान, सोना स्नान आदि के प्रयोग करेगा और सितारे जैसी चमक न आने पर दुखी होगा।

दूसरे-दूसरे प्रसाधनों की खोज करेगा, पार्लरों के चक्कर काटेगा।

इससे भिन्न दूसरा व्यक्ति शरीर को 'मेरा' न मान कर और जीवन यात्रा के लिए एक आवश्यक उपकरण मानते हुए उसे स्वस्थ और संतुलित रखना अपना कर्तव्य मानता है। वह इस शरीर का प्रयोग कर रहा है अतः इसे पुष्ट रखने, इसकी साफ-सफाई करने की जिम्मेदारी है उस पर। यह उसे करना ही है। वह व्यायाम करेगा, योगाभ्यास करेगा, स्नान करेगा, शुद्ध, सात्विक, पौष्टिक आहार लेगा लेकिन यह सब करते हुए उसका मन तानेबाने नहीं बुनता रहेगा कि उसके शारीरिक सौष्ठव पर कौन रीझेगा कौन नहीं। समयानुसार पकते बाल उसे उदास और चिंतित नहीं कर पाएंगे। उन्हें वह प्रौढ़ता का संकेत मान अपनी सांसारिक गतिविधियों को वानप्रस्थ आश्रम के अनुसार ढालने का प्रयत्न करेगा। दशरथजी को कनपटी पर सफेद बाल दिखाई दिया तब उन्होंने राज कार्य राम पर सौंप कर राजसिंहासन का त्याग करने की बात सोची।

इस प्रकार फलेच्छा त्याग कर देश, काल, आयु, परिस्थिति के अनुसार कर्तव्य कर्म करते रहें, न फल का आग्रह न कर्म की उपेक्षा। ऐसे व्यक्ति को ही भगवान ने कभी स्थितप्रज्ञ बताया था, ऐसे ही व्यक्ति को अब सर्वश्रेष्ठ त्यागी बता रहे हैं।

हमारी दृष्टि भिन्न है। हम समझते हैं कि फल मिलेगा तो कर्म करूंगा। कर्म करूंगा तो फल जरूर लूंगा। फल नहीं मिले तो कर्म भी नहीं करूंगा। यानी फल और कर्म या तो दोनों हों या दोनों का ही त्याग हो। भगवान के उत्तम मत के अनुसार कर्म को स्वीकार करना और फल का त्याग करना ही सर्वश्रेष्ठ त्याग है। ऐसे सात्विक त्यागी के आचरण और गुण पर प्रकाश डालते हुए भगवान कहते हैं:-

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।।१०।।

जो मनुष्य अकुशल कर्मों से द्वेष नहीं करता, कुशल कर्मों में आसक्त नहीं होता वह शुद्ध सत्व गुण से युक्त पुरुष संशय रहित, बुद्धिमान और सच्चा त्यागी है।

याद करें, भगवान ने दूसरे अध्याय में बुद्धि योग के संदर्भ में कहा था- **योगः कर्मसु कौशलम्।** कर्म में कुशलता और योग को समानार्थी बताया था। कुशलतापूर्वक कर्म करने की प्रेरणा दी थी।

कुशल और अकुशल कर्म क्या है? हम जानते हैं कि कर्म वासना उत्पन्न करके बन्धनकारी बन जाते हैं किन्तु कर्म त्याग अनुचित और अव्यवहारिक है। अतः बुद्धिमानी इस बात में है कि हम कर्म ही इस खूबी के साथ करें कि कर्तव्य पालन भी हो जाए और वासना का बन्धन भी उत्पन्न न हो। ऐसी बुद्धिमानी पूर्वक कर्म करना ही कर्मयोग है। ऐसे कर्म ही कुशल कर्म है। कर्म योग का मुख्य साधन तो फलासक्ति का त्याग है। दूसरा है कर्मों के प्रति संग यानी राग-द्वेष का त्याग। इसी साधन की यहां भगवान चर्चा कर रहे हैं।

कुछ कर्म स्वरूपतः ही ऐसे होते हैं कि स्पष्ट पता चलता है ये वासना का बंधन डालने वाले हैं और कुछ स्वरूप से ही वासना का बंधन काटने वाले प्रतीत होते हैं। जैसे चटपटा भोजन खाना अकुशल कर्म प्रतीत होता है और मिर्च-मसालों का त्याग कर सरल पौष्टिक आहार लेना कुशल जान पड़ता है। लेकिन इस प्रकार कुशल-अकुशल कर्मों में विभाजन कर कोई व्यक्ति आग्रह यह कर ले कि मैं तो कुशल कर्म ही करूंगा, अकुशल कर्म किसी भी हालत में नहीं करूंगा, मैं तो सादा भोजन ही खाऊंगा, स्वादिष्ट पकवान की ओर आंख भी उठाकर नहीं देखूंगा चाहे जो हो जाए, तो यह आग्रह उसे दूनी मुसीबत और बन्धन में डाल देगा। वह अपने पुत्र के विवाह की जेवनार में मूंग की दाल के पानी और चोकर की रोटी की फरमाइश करेगा। लोग उसे मूर्ख कहेंगे। वह संशय में पड़ा रहेगा क्या करूं क्या न करूं। यदि आज पकवान खा लूंगा तो मेरी रसना फिर इन्हीं की मांग करेगी। न खाऊंगा तो समधी का दिल दुखेगा। मुक्ति की चाह में साधना करने वाला त्यागी सबसे अधिक उधेड़बुन, अनिश्चय की स्थिति में रहेगा।

भगवान कहते हैं- तुम मेधावी कहलाना चाहते हो, तुम संशय रहित रहना चाहते हो तो त्याग के मर्म को समझो। कर्म सात्विक जान पड़े या राजसी, तुमने उसके साथ राग और द्वेष की डोर बांध ली तो पड़ गए तुम बन्धन में। त्याग दिखलाई देते हुए भी वास्तविक त्याग होगा नहीं। अकुशल के प्रति

द्वेष भी न हो और कुशल के प्रति राग भी न हो। भगवान को दुराग्रह बिल्कुल पसंन्द नहीं। जब जैसी स्थिति आए उसके अनुरूप व्यवहार करते हुए चेहरे पर मंद स्मित बनाए रखना- यही छवि उन्होंने दिखलाई है अपनी भी। परिस्थिति आने पर मांज कर साफ की गई हांडी में असावधानीवश रह गया शाक का पत्ता खाने में भी संकोच नहीं और द्वारका के राज प्रसाद में पंखा झलती रुक्मिणी के सामने बैठकर स्वर्ण थाल में सुमधुर व्यंजन खाने से न परहेज, न आसक्ति।

वास्तव में किसी भी वस्तु के प्रति महत्व बुद्धि का त्याग करना ही वास्तविक त्याग है और यह त्याग हम जीवन के हर क्षेत्र में कर सकते हैं। कभी-कभी हमारा मन करता है ऐसे माता-पिता का तो त्याग कर देना चाहिए, ऐसी पत्नी को त्याग देना चाहिए, ऐसे पुत्र का तो बिल्कुल ही परित्याग कर देना चाहिए। ऐसे समय में हम अत्यन्त संशय में पड़ जाते हैं। न तो उन्हें अपनाते बनता है न त्याग करते, क्योंकि त्याग का निर्णय लेते समय कहीं मन दस्तक देता हुआ जान पड़ता है- 'तुम अपने कर्त्तव्य से परे हट रहे हो, यह उचित नहीं, यह उचित नहीं।'

भगवान का संकेत समझें। एकदम छिन्न संशय, मेधावी त्यागी बनें। उनके प्रति अपने राग-द्वेष का त्याग कर दें। उन्हें अपने जीवन का जितना महत्वपूर्ण अंग समझते आए थे वह समझना बंद कर दें और फिर परिस्थिति के अनुसार जो उचित जान पड़े करते रहें। तब भगवान की नजरों में आप त्यागी हैं, आप सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं जिसे उन्होंने स्थितप्रज्ञ का नाम दिया है। दूसरे अध्याय में स्थित प्रज्ञ के लक्षण गिनाते समय सर्वत्र इसी प्रकार की शब्दावली का प्रयोग किया है, जैसे शुभ-अशुभ के प्रति **'नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।'** विषयों में विचरण के प्रति- **'राग द्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्'** इत्यादि। इसके अलावा भी सम्पूर्ण गीता में सबसे अधिक बार यदि कोई बात कही गई है तो वह है निराग्रही होना अर्थात् राग-द्वेष का त्याग करना।

त्याग के प्रकरण का उपसंहार करते हुए भगवान कहते हैं:-

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।

यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।११।।

देहधारी मनुष्यों के लिए कर्मों का पूर्ण रूप से त्याग संभव नहीं है अतः जो कर्मफल का त्यागी है वही त्यागी है ऐसा कहा जाता है।

भगवान बार-बार कह रहे हैं कि कर्म का त्याग मत करो, कर्म-फल का त्याग करो, वही सच्चा त्याग है, उसी से त्याग का परम फल प्राप्त होता है किन्तु यह बात केवल वे अपने मन से कह रहे हैं, केवल अपना स्वतंत्र मत प्रकट कर रहे हैं या कोई तार्किक आधार भी है? भगवान इस श्लोक में वही तार्किक आधार प्रस्तुत कर रहे हैं।

मान लिया कि हमने कुछ कर्मों का त्याग कर दिया और हम स्वयं को त्यागी समझने लगे। अब त्याग के पथ पर आगे कैसे बढ़ेंगे? अधिकाधिक कर्म का त्याग करके। फिर त्याग की पूर्णता कब आएगी? जब हम सारे के सारे कर्म छोड़ देंगे। यानी सांस लेना भी?

इस प्रकार तो हम देखेंगे कि मरे बिना हम पूर्ण त्यागी नहीं हो सकते और हर मृत व्यक्ति सबसे बड़ा त्यागी है, उसने तो सभी कर्मों का, सभी वस्तुओं का, यहां तक कि अपने शरीर तक का त्याग कर दिया है। इस प्रकार कर्म के त्याग को त्याग मान लें तो बड़े ही हास्यास्पद नतीजे पर पहुंच जाते हैं, इसलिए कर्म त्याग को त्याग मानना कदापि उचित नहीं। अतएव भगवान एक बार फिर अपने मत की पुष्टि के लिए कहते हैं कि देह धारी के लिए कर्मों का पूर्ण त्याग संभव नहीं है अतः कर्मफल त्यागने वाले को ही त्यागी माना गया है।

अब त्याग के फल की चर्चा करते हुए भगवान संन्यास का सूत्र हाथ में लेने वाले हैं।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्यासिनां क्वचित् ।।१२।।

कर्म फल का त्याग न करने वाले मनुष्यों को कर्मों का इष्ट, अनिष्ट और मिश्रित ऐसे तीन प्रकार के फल कर्म करने के बाद भी मिलते हैं पर

संन्यासी को बिल्कुल (कहीं भी) नहीं मिलते।

कर्म के अनुसार ही कर्म फल होते हैं। कर्म फल को हम दो श्रेणी में विभक्त कर सकते हैं। एक तो स्थूल फल है यानी लक्ष्य जिसे पाने के लिए हमने कर्म किया। दूसरा सूक्ष्म फल है। यह वे वासनाएं हैं जो कर्म की समाप्ति पर मन में एकत्र हो गई। जैसे भोजन खाने पर पेट का भरना स्थूल फल है और भोजन में जो वस्तु स्वादिष्ट लगी उसके प्रति राग (उसे पुनः खाने की इच्छा) तथा जो स्वादिष्ट नहीं लगी उसके प्रति द्वेष, वासना रूप सूक्ष्म फल है।

भविष्य में हम कैसे कर्म करेंगे यह काफी कुछ हमारी इन वासनाओं पर ही निर्भर करता है। वासनाओं के अनुसार हम कर्म करेंगे। कर्म के अनुसार फिर फल होगा और वासनाएं संचित होंगी। अब तक की सारी वासनाएं अगले क्षण के निर्माण में निर्णायक भूमिका निबाहती हैं। इसी क्रम को हम मृत्यु के क्षण तक ले जाएं तो यह स्पष्ट है कि मृत्यु के बाद का जीवन कैसा होगा यह मृत्यु पर्यन्त संचित किए गए वासना रूपी कर्म फल पर निर्भर करेगा।

ये कर्म फल तीन प्रकार के हो सकते हैं- अनिष्ट अर्थात् जो स्पष्टतया बुरे हैं, इष्ट जो स्पष्टतया अच्छे हैं और मिश्र जिनमें कुछ अच्छाई भी है बुराई भी। यदि ये वासनाएं इष्ट यानी सात्विक है तो सुखमय जीवन निश्चित है। यदि वासनाएं अनिष्ट यानी पाशविक प्रवृत्ति की हैं तो पशुओं की योनि ही उचित होगी। मिश्र फल वालों को साधारण मानव जन्म मिलेगा।

हम साधारण मानव हमेशा अपने आप में दो प्रवृत्तियां पाते हैं। कभी उच्च कोटि के शुभ और पवित्र विचार हमें ऊपर की ओर खींचते हैं कभी काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या आदि दुष्प्रवृत्तियां हमें नीचे की ओर घसीटती हैं। शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों का युद्ध चलता रहता है हमारे भीतर। यदि हम विवेक का प्रयोग करें, संयम से काम लें और श्रेय मार्ग के प्रति दृढ़ता रखें तो इन उच्च प्रवृत्तियों की शक्ति बढ़ेगी और हमारा विकास होगा यदि हम इन तुच्छ प्रवृत्तियों के बहाव में बहने लगे तो पतन होते देर नहीं लगती। दोनों रास्ते खुले हैं, फैसला हमारे हाथ है।

लेकिन श्रेय मार्ग पर चलें या प्रेय पर, वासनाएं तो संचित होगी ही। अच्छी बुरी हो सकती है पर अपना फल दिखाएंगी अवश्य। सत्कर्मों के अच्छे और कुकर्मों के बुरे फल मिलेंगे और जरूर मिलेंगे। हां, जिसने फल त्याग की साधना अपनाई है उसकी वासनाएं प्रभावहीन होती जाएगी, मिटती जाएंगी। उसके कर्म नई वासनाएं उत्पन्न नहीं करेंगे। त्याग जैसे-जैसे बढ़ेगा, वासनाओं की मात्रा वैसे-वैसे कम होगी।

भगवान यहां कहते हैं कि संन्यासी को तीनों प्रकार के फलों में से कोई भी फल किंचित मात्र भी नहीं मिलता। न इस जन्म में न मृत्यु के बाद। इससे स्पष्ट है कि त्याग की परिपूर्णता ही संन्यास है। संन्यास और त्याग दो पृथक् बातें ही नहीं। त्याग के मर्म पर चलते-चलते ही संन्यास तक पहुंचा जा सकता है।

परिभाषिक दृष्टि से संन्यास और त्याग में अन्तर है। संन्यास का अर्थ गीता में भगवान ने कर्तापन की भावना का त्याग बताया है जबकि 'त्याग' शब्द का प्रयोग वे फलेच्छा के त्याग के संदर्भ में करते हैं। स्वरूप से पृथक् होते हुए भी तत्व रूप से दोनों एक ही हैं। दोनों ही प्रकार से कर्म के साथ अपना सम्बन्ध छोड़ा जा सकता है।

इस प्रकार त्याग का तत्व समझाने में भगवान ने पूरा कर्मयोग सार रूप से दुहरा दिया। अब वे संन्यास का तत्व समझाएंगे जिसके अन्तर्गत सांख्य यानी ज्ञान योग सार रूप से आ जाएगा।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।१३।।

हे महाबाहो! कर्मों का अन्त करने वाले सांख्य सिद्धान्त में सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए ये पांच कारण बताए गए हैं, इनको तू मेरे से समझ।

सांख्य सिद्धान्त को यहां भगवान ने कर्मों का अन्त करने वाला अर्थात् कर्मों से पूर्णत: छूटने वाला बताया है। सांख्य सिद्धान्त में विवेक विचार की प्रधानता रहती है। इस सिद्धान्त में कर्म के विषय में क्या बताया गया यह

भगवान सार रूप से बताने जा रहे हैं।

कर्म की विवेचना आरम्भ करो तो पहला प्रश्न तो यह उठेगा कि कर्म होने के मुख्य कारण क्या हैं? भगवान का कहना है कि ये कारण पांच है जिसके विषय में वे बताएंगे।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

इसमें (कर्मों की सिद्धि में) अधिष्ठान तथा कर्ता और अनेक प्रकार के करण एवं विविध प्रकार की चेष्टाएं और वैसे ही पांचवा कारण दैव है।

कोई भी कर्म शुभ और सिद्ध यानी सफलतापूर्वक पूर्ण हो उसके लिए इस श्लोक में बताए गए पांच हेतु होने आवश्यक है।

१. **अधिष्ठान :** कर्म जिस स्थान पर हो रहा हो उसे अधिष्ठान कहते हैं। शरीर भी अधिष्ठान हो सकता है और शरीर जिस देश में स्थित हो वह भी अधिष्ठान है।

२. कर्ता : शरीर अपने आप से कोई भी कर्म नहीं करता जब तक कि उसके पीछे कोई ऐसा तत्व न मौजूद हो जो उसे अपना मानता हो, जो कर्म करने की इच्छा रखता हो, जो योजना बनाता हो और फल की चाह रखता हो। यही अहंकार है हमारा, जो कर्ता बन बैठता है और अपनी कामना का पूर्ति करना चाहता है।

३. करण : कर्ता जब कर्म करना चाहता है तो केवल चाहने मात्र से कर्म हो नहीं जाता। उसे कुछ उपकरण चाहिए जिनकी सहायता से वह कर्म कर सके। इन्हें करण कहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां ये दस तो बहि:करण है तथा मन बुद्धि अहंकार ये तीनों अन्त:करण है।

४. विविधाश्च पृथक्चेष्टा : स्थान भी हो, कर्ता भी आ जाए, उसके साथ आवश्यक उपकरण भी रहे तब बारी आती है क्रिया की। एक कर्म की पूर्ति के लिए अनेकों प्रकार की अलग-अलग क्रियाएं यानी विविध चेष्टाएं करनी पड़ती है।

कर्म और क्रिया का अन्तर समझ लें। एक कमरे में बहुत शोर-गुल हो रहा है। एक व्यक्ति आता है और बहुत जोर से चिल्ला कर सबको धमकाता है जिससे सब शांत हो जाते हैं। दूसरा व्यक्ति आकर केवल उंगली से इशारा करता है और सब चुप हो जाते हैं। तीसरे व्यक्ति के आने मात्र से सब शांत हो जाते हैं। तीनों व्यक्तियों की क्रियाएं तो अलग-अलग हैं किन्तु कर्म एक है। साधारणत: एक कर्म के लिए अनेक क्रियाएं करनी पड़ती है जैसे मित्र से मिलने के लिए तैयार होना, कार में बैठना, कार चलाना, रोकना, उतरना, उसके घर में घुसना, घंटी बजाना आदि पृथक् चेष्टाएं हैं।

५. दैव : कर्ता के द्वारा की गई क्रियाओं के अलावा अनगिनत दूसरी बातें हैं जिन पर कर्ता का वश नहीं, पर वे अनुकूल न हो तो कर्म की सिद्धि नहीं हो सकती। जैसे मित्र से मिलने के लिए हमने तो सारी चेष्टाएं कर ली पर उस वक्त वह घर पर नहीं हुआ, फोन पर बात भी की थी पर संयोगवश उसे ऐसा आकस्मिक काम आ पड़ा कि उसे घर से बाहर जाना पड़ा। ऐसी स्थिति में मिलने का कर्म सिद्ध हो नहीं पाएगा। इन्हें हम संयोग भी कह देते हैं। दैव शब्द के अन्तर्गत वे सारे कारण आ जाते हैं जिन पर वर्तमान में हमारा कोई वश नहीं। हमारे पूर्व कर्मों के फल, उन फलों के कारण संचित वासनाएं, स्वभाव आदि भी दैव ही है क्योंकि इनके कारण मनुष्य किसी विशेष परिस्थिति में रहने और किसी विशेष प्रकार से व्यवहार करने को बाध्य हो जाता है।

शरीरवांग्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नर: ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतव: ।।१५।।

मनुष्य शरीर, वाणी और मन के द्वारा शास्त्रविहित या शास्त्र विरुद्ध जो भी कर्म आरम्भ करता है उसमें ये ही पांच हेतु बताए गए हैं।

पिछले श्लोक में जो पांच हेतु बतलाए गए हैं- अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव ये पांच मिल कर ही सब कर्म करते है चाहे वह न्यायपूर्ण कर्म हो या अन्यायपूर्ण कर्म। ये पांचों हेतु कार के इंजन के विभिन्न कल-पुर्जो की भांति हैं जिनके बिना कार चल नहीं सकती। किन्तु स्मरण रहे कि अभी

इसमें पेट्रोल की बात नहीं कही गई है। इंजन बिना पेट्रोल के नहीं चल सकता लेकिन पेट्रोल भी स्वयं कुछ करता नहीं। पेट्रोल का कार के समय सम्बन्ध हीन सम्बंध है और यही सम्बंध हमारे शरीर, वाणी और मन के साथ आत्मा का है। कार्य करते हुए शरीर, वाणी और मन ही प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तविक कर्ता क्या आत्मा है? देखें, भगवान की इस विषय में क्या सम्मति है:-

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

परन्तु ऐसे पांचों हेतुओं के होने पर भी जो शुद्ध आत्मा को कर्ता मानता है, वह दुर्मति ठीक नहीं समझता क्योंकि उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं है।

कर्म के हेतु अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और दैव ही हैं जो कि आत्मा की उपस्थिति में कार्य करते अवश्य हैं किन्तु कर्म करने वाला आत्मा नहीं है। न न्यायपूर्ण कर्म के लिए वह सराहना का पात्र है न अन्यायपूर्ण कर्म के लिए दोष का भागी। आत्मा की उपस्थिति में हमारा अहंकार ही अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए कर्ता बनता है।

एक बार एक नौसिखिए कार चालक की भूल के कारण खतरनाक एक्सीडेंट हो गया। उसने कोर्ट में अपील की- 'मी लार्ड, दोषी मैं नहीं, पेट्रोल है। पेट्रोल के कारण ही तो मेरी गाड़ी चली। पेट्रोल न होता तो कोई एक्सीडेंट नहीं होता। अतः सजा पेट्रोल को मिलनी चाहिए मुझे नहीं।' ऐसे व्यक्ति को तो पागल कह लेते हैं हम, लेकिन अपने बुरे कर्मों के लिए भगवान को दोषी ठहराते हमें तनिक भी संकोच नहीं होता। हम कह देते हैं- आखिर सब काम करने वाला तो भगवान ही है, उसने मुझे ऐसी बुद्धि दी तो इसमें मेरा क्या दोष?

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसा समझने वाले दुर्मति हैं। उनकी बुद्धि कलुषित है। वे सत्य से पूरी तरह परिचित नहीं। आत्मा तो मन, बुद्धि, वासनाओं का प्रकाशक मात्र है। सूर्य की किरणें पृथ्वी पर पड़ते ही कितनी हलचल आरम्भ होती है- कुछ फूल खिलते हैं, कुछ फूल बन्द होते हैं, कोई

स्नान कर भगवान का ध्यान करता है, कोई जेब काटने निकल पड़ता है लेकिन इन सबके लिए सूर्य उत्तरदायी नहीं है। उसकी किरणें तो सबके लिए समान है। अलग-अलग व्यक्ति अपने-अपने संस्कारों, आवश्यकताओं और स्वभाव के अनुसार कार्य करते हैं।

इसी प्रकार आत्मा का कार्य तो शरीर को चेतना प्रदान करना है ताकि वह अन्त:करण की वासनाओं के अनुरूप कार्य कर सके। अच्छे-बुरे कार्य के लिए आत्मा उत्तरदायी नहीं। दोषी हमारा कर्तृत्व अभिमान है। हमारा अहंकार जब यह कहने लगता है कि मैं करने वाला हूं तो समस्त दोषों का पात्र वही बन जाता है।

आत्मा कर्ता नहीं है, समस्त कर्म प्रकृति के खेल हैं यह समझाने में भगवान का तात्पर्य क्या है यह अगले श्लोक में स्पष्ट हो जाएगा।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।१७।।

जिसका अहंकृत भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती वह सम्पूर्ण प्राणियों को मार कर भी न मारता है, न बंधता है।

सांख्य योग के अन्तर्गत कर्म के हेतु, कारण आदि के विवेचन का लक्ष्य तो कर्म बन्धन से छुड़ाना ही है। कर्म के पांच हेतुओं में एक जो कर्ता बताया गया, वह वास्तव में हमारा मिथ्या अभिमान है कि 'मैं करने वाला हूं।' यदि यह अभिमान न रहे तो कर्ता महाशय रहेंगे ही नहीं। फिर कर्मों से बंधेगा कौन? यही ट्रिक है कर्म बन्धनों से छूटने की। यही तकनीक है सच्चे संन्यास की।

हमारा सत्य स्वरूप आत्मा है और आत्मा कर्ता है नहीं, यह भगवान ने पिछले श्लोक में स्पष्ट कर दिया है। हम तो अपनी अशुद्ध बुद्धि, दुर्मति के कारण आत्मा यानी अपने आप को कर्ता मान बैठे हैं जिसके कारण कर्म वासना उत्पन्न कर हमें बांध लेते हैं। भगवान ने तो गीता में स्थान-स्थान पर यही बात कही है। चौथे और पांचवें अध्याय में कर्म संन्यास का विषय अत्यन्त

विस्तार से बताया था। उन्होंने कहा था कि कर्मफल में जिसकी स्पृहा नहीं है, वह कर्मों से नहीं बंधता। कर्म का फल हमें न बांधे, इसलिए कर्मयोग की विभिन्न साधनाएं बतायी थीं। यह भी बताया था कि सांख्य योग और कर्म योग को पृथक् समझने वाले अपण्डित हैं। फिर तेरहवें और चौदहवें अध्याय में सांख्य विवेचन के द्वारा फिर स्पष्ट किया था कि सारे कर्म प्रकृति के द्वारा ही हो रहे हैं, प्रकृति के तीन गुण ही गुणों में व्यवहार कर रहे हैं, परमात्मा सब कुछ करने वाला होकर भी अकर्ता ही है, वह शरीर में स्थित होते हुए भी इससे निर्लिप्त है। यह सब बताते हुए संदेश दिया कि अपना तादात्म्य हम प्रकृति द्वारा निर्मित शरीर आदि से न कर अकर्ता आत्मा से करें।

अब अंतिम अध्याय में इसका उपसंहार करते हुए पुनः इस श्लोक में भी भगवान यही कह रहे हैं कि जो शरीर, इसकी क्रियाओं तथा जगत की पदार्थिक वस्तुओं के साथ अपनी बुद्धि को लिपायमान नहीं करता, जिसकी बुद्धि में 'मैं करता हूं' का भाव नहीं रहता, वह कर्म बन्धनों से मुक्त है।

यहां पर कर्म बंधनों से मुक्ति को भगवान ने इन शब्दों में व्यक्त किया है- 'वह सम्पूर्ण प्राणियों को मारते हुए भी नहीं मारता है।' भगवान ने इन शब्दों का व्यवहार विशेष कर इस लिए किया है, क्योंकि उसके शिष्य अर्जुन के समक्ष सबसे विकराल प्रश्न यही था। इतने लोगों को मारने के पाप से मुक्त होने के लिए ही वह रणभूमि का त्याग कर संन्यास लेना चाहता था। भगवान उसकी दृष्टि परिमार्जित करना चाहते थे इसलिए सारी विवेचना करने के बाद स्पष्ट कह दिया- 'अर्जुन, मेरी सलाह मानोगे तो इनको मारकर भी तुम मारने के कर्म से बंधोगे नहीं। अपने को अकर्ता समझकर कर्म करते रहोगे तो संसार में रह कर भी संन्यासी ही रहोगे।'

हमारे लिए भी स्पष्ट संकेत है। हत्या से बढ़कर घोर कर्म तो किसी भी संसारी की नजरों में दूसरा नहीं है। जब घोरतम कर्म से भी छूटने का उपाय भगवान कर्तापन के अहंकार को समाप्त करना बता रहे हैं तो हमारे दूसरे छोटे-मोटे गृहस्थी के कर्मों की तो बिसात ही क्या जो हमें बांधा पाएं।

इस कर्तृत्व भाव को दूर करने की सांख्य योग की प्रमुख साधना विवेक विचार है, अतः कर्म के विषय में कुछ और बातें भी जान लें।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।।१८।।

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता इन तीनों से कर्म प्रेरणा होती है। करण, कर्म और कर्ता इन तीनों से कर्म संग्रह होता है।

किसी भी ज्ञान की प्राप्ति के लिए उस ज्ञान के साथ-साथ ज्ञान का विषय अर्थात् ज्ञेय और ज्ञान को पाने वाला- ज्ञाता होना आवश्यक है। ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता को वेदान्त में त्रिपुटी कहते हैं और ये तीनों ही कर्म के प्रेरक होते हैं। इनका संबंध वैसा ही है जैसा भोग, भोग्य और भोगी का। नए कर्म के लिए प्रेरणा देने वाले इन्हीं तीनों में से एक, दो या तीनों होते हैं; अन्य कोई नहीं। जैसे प्यास लगने पर हमारा यह ज्ञान कि प्यास पानी से बुझती है, हमें पानी की खोज के लिए प्रेरित करेगा। पानी ज्ञेय है और पानी से प्यास बुझाने का ज्ञान रखने वाला ज्ञाता।

फिर भगवान यह भी बताते हैं कि कर्म संग्रह कैसे होता है, अर्थात् कर्म बांधने वाला कैसे बन जाता है। इसके भी तीन हेतु बताए करण, कर्म और कर्ता। मूलतः कर्म संग्रह का हेतु तो कर्ता यानी कर्तृत्व अभिमान ही होता है, करण और कर्म तो उसके सहायक होते हैं। कर्ता करण के राग के कारण भी बंध सकता है और कर्म के राग के कारण भी।

जिस उपकरण या साधन की सहायता से हमें कोई सिद्धि मिलती है है उससे अत्यधिक लगाव व्यक्ति को बद्ध कर देता है। जैसे सितारवादक को अपनी सितार प्राणों से भी प्रिय लगने लगती है। घुड़सवार अपने घोड़े के लिए जान देने को तैयार रहता है। क्रिकेटर को अपने बच्चे से अधिक प्रिय अपना बल्ला लगने लगता है। ये सब 'करण-कर्ता' कर्म संग्रह के उदाहरण हैं।

बहुत बार हम यह पाते हैं कि व्यक्ति जो कार्य करता है उसके प्रति उनकी अति अनुरक्ति हो जाती है। वह दूसरा कार्य करने को तैयार नहीं होता। कोई व्यवसाय में पूरी तरह डूबा हुआ है, कोई रात दिन चिड़ियों के ही विषय

में सोचता रहता है, कोई वृक्षों को न कटने देने के लिए प्रतिबद्ध है, किसी को पहाड़ ही हर वक्त पुकारते प्रतीत होते हैं। ये लोग अपनी-अपनी रुचि के इन कार्यों को छोड़ दूसरा कुछ करना नहीं चाहते। इस प्रकार यह 'कर्म-कर्ता' बद्धता है। करण हो या कर्म, कर्ता ने जहां इनके साथ रागात्मक संबन्ध जोड़ लिया वहीं वह बंध जाएगा। इस प्रकार मूल में कर्तृत्व भाव ही है। यदि इसका त्याग हो जाए तो करण और कर्म बांध नहीं पाएंगे।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुण संख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।।१९।।

गुणों की संख्या करने वाले शास्त्रों में ज्ञान, कर्म तथा कर्ता, गुणों के भेद से तीन तीन प्रकार के कहे गए हैं। उनको भी तू भली भांति सुन।

संन्यास के सम्बन्ध में सांख्य दर्शन क्या कहता है यह बताते हुए भगवान कर्तृत्व त्याग की बात पर बता रहे हैं। ऐसी ही बात भगवान ने चौदहवें अध्याय में गुणातीत के सम्बन्ध में भी कही थी। जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति द्वारा किए जा रहे समस्त खेलों में अपने को अकर्ता देखता है, जो अपने आप को स्वरूपतः इन तीन गुणों से अलिप्त मानता है वह गुणातीत है। वह सत्व रजस तमस किसी भी गुण से बंधता नहीं। इस प्रकार जो गुणातीत है वही अकर्ता है, वही कर्मों से मुक्त है। दूसरे शब्दों में- वही संन्यासी है। इस प्रकार संन्यास के प्रकरण में भी घूम फिर कर हम वस्तु, व्यक्ति, वृत्तियों और उनके आपसी व्यवहार के त्रिगुणात्मक स्वरूप पर आ जाते हैं।

इसी लिए इस श्लोक में भगवान बताते हैं कि यदि गुणों की दृष्टि से विश्लेषण किया जाए तो हम पाएंगे कि कर्ता, कर्म और ज्ञान, तीनों ही तीन-तीन गुणों से बने हैं। इन्हीं का विभिन्न प्रकार से संयोग ही इस अनन्त सृष्टि में हमें विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। यदि हमें यह समझना है कि हम कर्तापन के अभिमान से कैसे मुक्त हों ताकि कर्म और ज्ञान हमें बांध न पाए तो हमें इनके विभिन्न स्वरूपों को भली भांति समझना होगा जो भगवान अब बताने जा रहे हैं।

सबसे पहले भगवान ज्ञान के विषय में बताते हैं:-

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।२०।।

जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतों में एक अविनाशी परमात्म भाव को अविभक्त रूप से देखता है उस ज्ञान को तू सात्विक जान।

ज्ञान कितने प्रकार का होता है? यदि हम विभागीकरण करने जाएंगे तो कुछ समझ नहीं आएगा। पुस्तकीय ज्ञान, शास्त्रीय ज्ञान, सामान्य ज्ञान, व्यवहारिक ज्ञान, व्यवसायिक ज्ञान, परमार्थिक ज्ञान आदि अनेक अनेक नाम जुड़ते जाएंगे और सूची का अंत ही नहीं आएगा किन्तु भगवान ने सभी प्रकार के ज्ञान का बहुत ही खूबसूरती से विभागीकरण कर उन्हें सत्व रजस तमस की श्रेणी में डाल दिया है।

ज्ञान कैसा भी हो, यदि उसके द्वारा हम समस्त सजीव-निर्जीव प्राणियों में एक ही परमात्मा की सत्ता को पहचान पाते हैं तो वह ज्ञान सात्विक ज्ञान है। उदाहरणस्वरूप चिकित्सकीय ज्ञान हो लें। जिस दिन भारत में प्रथम टेस्ट ट्यूब बेबी का जन्म हुआ उस दिन बहुतों ने कहा- अब भगवान को कौन मानेगा? किन्तु कलकत्ता के जिस डाक्टर ने टेस्ट ट्यूब की विधि विकसित कर शिशु का जन्म करवाया उनके उद्गार थे कि इससे ईश्वर में उनकी आस्था दृढ़ हुई है। वे शिशु के जन्म में ईश्वर की अद्भुत शक्ति को देख पाने में सफल हुए। उस शिशु का नाम भी उन्होंने दुर्गा रखा।

इसी प्रकार भौतिकीय ज्ञान को ले लीजिए। भौतिक शास्त्र की गहराई और ऊंचाई में जाएं तो बुद्धि विस्मय से भर उठती है। हर पदार्थ का अणु, उसमें परमाणु, परमाणु के अन्दर प्रोट्रान, न्यूट्रान और अपनी-अपनी परिधि के चक्कर काटते इलेक्ट्रान- इतने सूक्ष्म कि माइक्रोस्कोप से भी नहीं दिखलाई देते फिर भी इनकी एक-एक क्रिया बिल्कुल सुनियोजित! कहीं कुछ अनियमितता होती ही नहीं। दूसरी ओर ब्रह्माण्ड के ये अनगिनत नक्षत्र। एक-एक तारा सूर्य से कई गुणा बड़ा, उन सबके ग्रह, ग्रहों के उपग्रह ऐसे

अनगिनत तारे अपने उपग्रहों सहित ब्रह्माण्ड में घूम रहे हैं। उनकी भी क्रियाएं बिलकुल सुनियोजित। यह सब देखते-सोचते लगने लगता है कि कौन है जो इन्हें चला रहा है? कैसे चला रहा है? भौतिकी सिद्धान्त के अनुसार तो पदार्थ को न बनाया जा सकता है, न नष्ट किया जा सकता है उसका तो केवल रूप बदला जा सकता है- फिर पहली बार यह पदार्थ कैसे बना?

और इन प्रश्नों की खोज जब आरम्भ होती है, इसके उत्तर का जब ज्ञान होता है तो उस ज्ञान को सात्विक ज्ञान कहते हैं। आइंस्टाइन को अपने जीवन के अंतिम दिनों में यह ज्ञान हुआ था और वे पक्के आस्तिक बन गए थे। एटम बम के आविष्कारक जर्मन वैज्ञानिक ओपेन हाइमर को गीता याद थी। अपने आविष्कार का परीक्षण देख जब वे कांप उठे तो उन्हें ग्यारहवें अध्याय में भगवान की कही हुई बात याद आई- कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः अर्थात् मैं काल हूं और समस्त लोक के नाश के लिए प्रवृत्त हुआ हूं।

सात्विक ज्ञान की प्राप्ति जब होती है तब तू तेरे का भाव मिट जाता है। मैं तुम और वह तीनों एकाकार हो जाते हैं।

अब राजस ज्ञान का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं:-

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।।२१।।

परन्तु जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों को अलग-अलग, उनके भावों को अलग-अलग जानता है, उस ज्ञान को तू राजस समझो।

जब तक ज्ञान सात्विकता के स्तर तक नहीं पहुंचता तब तक वह राजसी रहता है। यह ज्ञान बहुर्मुखी होगा और व्यक्ति को बहिर्मुखी बनाएगा। राजसी ज्ञान भेदमूलक है। यह एक वस्तु से दूसरी वस्तु, एक प्राणी से दूसरे प्राणी के गुण-दोष, स्वभाव-व्यवहार आदि का अन्तर स्पष्ट करता है, उनकी एकात्मता नहीं बताता।

राजसी ज्ञान के कारण तू, तेरा, उसका की सृष्टि होती है और जहां तू और वह रहेगा वहीं मैं यानी अहंकार भी आएगा ही और फिर तू-तेरा, मैं-मेरा, वह-उसका मिलकर अन्तहीन भेद की सृष्टि करते हैं जिसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं, हम बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। राजसी ज्ञान के कारण व्यक्ति प्राणियों को तो अलग-अलग मानता ही है, अपनी इंद्रियों, मन, बुद्धि, भावनाओं, वृत्तियों को भी अलग-अलग ही मानता है। उसमें भी एक परमात्मा की सत्ता का अनुभव नहीं कर पाता। यह राजसी ज्ञान ही है जो कभी तो रूप, कभी जाति, कभी गुण कभी मजहब के नाम पर व्यक्ति में अलगाव पैदा करता है। यह राजसी ज्ञान ही है जो ईसाई, इस्लाम और हिन्दू धर्म को अलग-अलग मानता है और यह राजसी ज्ञान ही है जो राम, कृष्ण, शिव, विष्णु और दुर्गा में भी पृथक्ता देखता है। इस हर क्षण बदलते जगत को नचाने वाला, इस हर क्षण सरकते संसार को सरकाने वाला राजसी ज्ञान ही है।

अब तामस ज्ञान का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं:-

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

परन्तु जो ज्ञान एक ही कार्य रूप में इस प्रकार आसक्त है जैसे वह सब कुछ हो, वह बिना युक्ति वाला, तात्विक अर्थ रहित और अल्प है- वह तामस कहलाता है।

राजसी ज्ञान में तो मैं के साथ तू और वह भी रहता है किन्तु तमस का आधार तो मूढ़ता है न, अत: तामसी ज्ञान तो लगभग विचार शून्य होता है। तामसी ज्ञान वाले व्यक्ति की तो अपने ही शरीर या अपने को प्रिय लगने वाली किसी वस्तु या विचार में इतनी अधिक आसक्ति हो जाती है कि वह दूसरा कुछ देख सुन समझ ही नहीं पाता। साधारणत: तो तामसी का ज्ञान अपने शरीर को ही सब कुछ मानता है, इसलिए ऐसे ज्ञान वाला व्यक्ति उसी को पोसने, पुष्ट करने, सजाने, संवारने, आराम दिलाने में अपने कार्य की इतिश्री

मानता है। उसे अपने भौतिक लाभ का ही ज्ञान होता है, दूसरी हर बात से वह आंखें मूंदे रहता है।

शरीर के अलावा 'यही सब कुछ' की भावना किसी वस्तु व्यक्ति या विचार के प्रति भी हो सकती है। एक विशेष औरत को पाने के लिए राजा अपनी प्रजा का हित और असंख्य सैनिकों की बलि चढ़ाने में भी गौरव मानते थे। नरकासुर ने जीवन का लक्ष्य एक लाख कन्याओं से विवाह ही समझ लिया था और वर्तमान काल में एक-एक गज जमीन के लिए भाई-भाई को दुश्मन बनते देख सकते हैं मानो वह एक गज जमीन ही दुनिया में सब कुछ हो।

इसी का व्यापक रूप हम अपने जीवन में क्षण-क्षण देख सकते हैं। जरा-जरा सी बात पर हमारा आग्रह इतना प्रबल हो जाता है मानो वह नहीं हुआ तो हमारा जीवन ही शुष्क हो जाएगा। आफिस से आने पर पत्नी ने मुस्कुरा कर स्वागत नहीं किया तो पति डिप्रेस्ड हो जाता है, पति ने पत्नी के बनाए खाने की तारीफ नहीं की तो पत्नी सोचने लगती है कि ऐसे पति के साथ तो एक दिन भी नहीं रहना चाहिए।

ऐसे अयुक्तिपूर्ण और निस्सार तथा छोटी-छोटी बातों को अत्यधिक महत्व देने वाले ज्ञान को तामस ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान अपने 'अहं' से परे और किसी की सत्ता है भी- यह समझ ही नहीं पाता।

तीन प्रकार के ज्ञान का विवेचन करने के बाद भगवान अब तीन प्रकार के कर्मों की व्याख्या आरंभ करते हैं। सबसे पहले सात्विक कर्म के विषय में बताते हैं।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।२३।।

वह कर्म जो नियत हो, आसक्ति रहित हो, राग द्वेष के बिना किया जाए और फल न चाहने वाले पुरुष द्वारा किया गया हो तो वह सात्विक कहा जाता है।

भगवान ने गीता में सबसे अधिक जोर देकर कोई बात कही है तो वह है बिना राग द्वेष के, बिना आसक्ति के, बिना फल की कामना से कर्म करना। पहले अनेकों बार भिन्न-भिन्न संदर्भ में इसी बात को कह चुके हैं। कर्म योग के संदर्भ में कही तब इस कर्म को मोक्षकारक और ईश्वर से योग कराने वाला बताया। सात्विक यज्ञ, दान आदि के संदर्भ में भी ऐसी ही बात कही थी और अब हर नियत कर्म को आसक्ति राग द्वेष तथा फलेच्छा त्याग कर करने की प्रेरणा दे रहे हैं क्योंकि ऐसे कर्म सात्विक फल देने वाले यानी सत्व गुण की वृद्धि कर उच्च गति प्राप्त कराने में समर्थ हैं।

अब राजस कर्म का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं:-

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेणा वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।२४।।

परन्तु जो कर्म भोगों को चाहने वाले मनुष्यों के द्वारा अहंकार अथवा परिश्रमपूर्वक किया जाता है। वह राजस कहा गया है।

राजस कर्म के विषय के तीन बातें भगवान ने बताई। कामेच्छा, अहंकार और परिश्रम। राजस कर्म में परिश्रम पूरा है। आराम की कामना नहीं। परिश्रम की ओर प्रवृत्त करने वाले दो बल हैं- कामेच्छा और अहंकार।

जब हमें किसी वस्तु की अति लालसा होती है तो उसके लिए हम कितना भी परिश्रम करने को तैयार रहते हैं। हमें थकान का अनुभव ही नहीं होता बशर्ते की इच्छा पूरी होती दिखाई पड़ती रहे। हम रात की नींद, दिन का चैन खुशी से त्याग देते हैं। फल का स्वप्न हमें ऊर्जा देता रहता है- 'बस यह कर लूं तो अमुक फल मिल जाएं' यह विचार हमें ऐसी शक्ति देता है कि कर्म करते समय परिश्रम का बोध ही नहीं होता।

परिश्रम ओर प्रेरित करने वाली दूसरी शक्ति है अहंकार। लोग मेरे कर्म को देखेंगे तो वाह-वाह करेंगे। मेरा नाम होगा, बड़ाई होगी। मेरे जैसा सुन्दर कार्य दूसरा कोई नहीं कर सकता, मैं कर्म में बहुत कुशल हूं, बड़ा ईमानदार हूं आदि सोच सोच कर जो परिश्रम किया जाता है वह राजसी कर्म

है।

प्राय: देखने में आता है कि पुरुष जीवन आरम्भ करता है तो पहले उसे भोगों की लालसा अधिक होती है। अत: वह सारा श्रम धन कमाने की ओर केन्द्रित करता है। उस समय वह धन के लिए अहंकार का भी त्याग कर देता है। यश, मान बड़ाई की बात तो वह सोचता ही नहीं, किसी की भी जी-हुजूरी कर काम बन जाएं तो वह तैयार रहता है। इस प्रकार के कामेप्सु पुरुष जब काफी धन कमा लेते हैं, भोग लेते है तब उन्हें वे अपेक्षाकृत महत्वहीन लगने लगते हैं। तब धन की कामना का स्थान यश की कामना ले लेती है। तब वह अहंकार पूर्वक मोटी रकम दान में देकर बड़े समाजसेवी का बिल्ला पाना चाहता है। ऐसे दान को भी भगवान् ने राजस दान ही बताया था। यहां ऐसे सभी कर्मों को राजस बतला रहे हैं।

तामस कर्म का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं:-

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।२५।।

जो कर्म परिणाम, हिंसा और सामर्थ्य को न देख कर मोहपूर्वक आरम्भ किया जाता है वह तामस कहा जाता है।

राजस कर्म के पीछे तो कामना होती है। अत: वह योजना बना कर सोच विचार कर किया जाता है। किन्तु तामस के पीछे तो मूढ़ता और प्रमाद होता है। अत: विचार रहता नहीं। मैं जो कर्म कर रहा हूं उसका क्या परिणाम होगा, इससे किसी की हिंसा भी हो सकती है। मुझे बहुत बड़ी हानि भी हो सकती है, यह कार्य मेरी सामर्थ्य के बाहर का भी हो सकता है- ये सब विचार किए बिना मोह के वशीभूत हो कर यानी 'मुझे यह करना अच्छा लगता है' बस ऐसा सोच कर जो कार्य किया जाता है वह तामसी कार्य है। तामसी कार्य में अहंकार नहीं होता। इसमें तो स्वाभिमान तक की विस्मृति हो जाती है। दुनिया में मेरा कितना अपमान, कितना तिरस्कार होगा यह भूल कर जो चरस, गांजे, शराब के नशे में धुत हो कर मूर्खतापूर्ण कर्म करते हैं वे सब

तामसी कर्म हैं।

भगवान तीनों प्रकार के कर्मों का विवेचन करने के बाद अब तीन प्रकार के कर्ता का वर्णन करते हैं। सबसे पहले सात्विक कर्ता के विषय में बताते हैं:-

मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ।।२६।।

जो कर्ता संगरहित, अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त, सिद्धि असिद्धि के प्रति निर्विकार है वह सात्विक कहा जाता है।

जिस व्यक्ति की प्रकृति में सत्वगुण की प्रधानता होगी वह सात्विक कर्त्ता होगा। सत्वगुणी व्यक्ति स्वभाव से विकार रहित होता है यानी दु:ख की परिस्थिति आए या सुख की, सफलता मिले या असफलता, वह न तो अत्यधिक हर्षित होता है न रोता कलपता है। इसका मूल कारण है किसी के प्रति राग द्वेष का अभाव। इसी के कारण आसक्ति नहीं होती और वह मुक्त होता है।

सात्विक कर्ता के लक्षणों में एक बात ध्यान देने की है कि धैर्य और उत्साह के गुण उसमें साथ साथ होते हैं। वह धीरज धर चुपचाप बैठे रहने वाला अकर्मण्य नहीं होता। अपने चारों और नजर डालें तो हमें कुछ तो ऐसे मिलेंगे जो संतोषी प्रकृति के कहलाते हैं। सामान्य परिश्रम से जो मिल जाए उसमें संतोष उन्हें नवीन कर्मों या परिश्रम के प्रति उत्साह हीन बना देता है। दूसरी ओर ऐसे व्यक्ति होते हैं जो हर कार्य के प्रति उत्साह रखते हैं। जी जान से जुट जाते हैं कर्म में, लेकिन सफलता देर से मिलती है या उनके साथी सहयोग नहीं देते, उनके मातहत कार्य करने वाले लोग सुस्ती दिखाते हैं तो उन्हें बहुत गुस्सा आता है। इस प्रकार उत्साह की अधिकता धैर्य के अभाव की सृष्टि कर देती है किन्तु गीता का अदर्श व्यक्ति कर्म के प्रति उत्साह और फल के प्रति धैर्य रखता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।

हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।२७।।

जो कर्ता आसक्ति से युक्त, कर्मों के फल को चाहनेवाला, लोभी, हिंसक, अशुद्ध आचरण वाला, और हर्ष शोक से लिप्त है- वह राजस कहा गया है।

राजस कर्ता राजसी कर्म करता है जिसका मूल ही है फल की कामना। कामना का अति बलवान होना कर्ता को लोभी बना देता है, क्योंकि कामना का तो स्वभाव ही है कि वह जितनी पूर्ण होती है उतनी ही बढती जाती है। लोभ जब आक्रमण करता है तो केवल एक ही बात का विचार रहता है कि मेरी कामना कैसे पूरी होगी। वह दूसरों की भावनाओं के प्रति भी संवेदनाशून्य हो जाता है। उसके कारण दूसरों को कष्ट पीड़ा पहुंचती है जिसकी उसे परवाह नहीं होती, उसका आचरण बद से बदतर होता जाता है।

अपने अभीष्ट की पूर्ति के लिए जो चाहे हथकंडे अपना कर कभी उसे हर्ष मिलता है कभी शोक। दोनों पलड़ों में वह निरन्तर झूलता रहता है। फल प्राप्ति पर हर्ष होता है पर जल्दी ही दुराचरण के बुरे परिणाम सामने आने लगते हैं। गले तक मिठाई खाने वाला लालची कुछ ही देर बाद पेट दर्द से छटपटाने लगता है।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।२८।।

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षा से रहित, घमंडी, धूर्त, दूसरों की जीविका का नाश करने वाला, आलसी, शोक करने वाला, दीर्घसूत्री है वह तामस कहा जाता है।

तामसिक व्यक्ति के साथ दिक्कत यह है कि वह न तो निष्काम होता है न परिश्रम करना चाहता है। उसे नाना प्रकार के सुख भोग की लालसा होती है किंतु वह चाहता है कि बिना विशेष परिश्रम के उसे मनचाही वस्तु मिल जाए। यह विरोधाभास उसे अयुक्त बना देता है। उसके मन बुद्धि मिल

कर ठीक ठीक विचार नहीं कर पाते। आलसी स्वभाव के कारण वह शिक्षा भी प्राप्त नहीं कर पाता। वह दीर्घसूत्री होता है यानि थोड़े से काम को कल कर लेंगे, परसों कर लेंगे सोचते सोचते दीर्घ काल तक खींचता रहता है।

निश्चित रूप से ऐसा व्यक्ति मेहनत से तो कुछ पा नहीं सकता अत: ठगी चोरी दूसरों के हक पर डाका डालने आदि काम ही करने पड़ते हैं। ऐसा कर भले ही वह अपनी चतुराई के घमंड में फूला रहे, सुख तो उसे मिल नहीं सकता। एक ओर घमंड दूसरी ओर विषाद उसके व्यक्तित्व को बिलकुल असंतुलित कर देते हैं।

हमें चाहिए कि भगवान द्वारा वर्णित इन लक्षणों को अपने में पहचान कर इनसे ऊपर उठने का प्रयत्न करें क्योंकि तामस व्यक्ति की गति न इहलोक में अच्छी होती है न परलोक में।

तीनों प्रकार के कर्ता के लक्षण बताने के बाद भगवान अब बुद्धि और धृति का सूत्र पकड़ते हैं-

बुद्धिर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ।।२९।।

हे धनंजय, अब तू बुद्धि और धृति का भी गुणों के अनुसार तीन प्रकार का भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णता से विभागपूर्वक कहा जाने वाला सुन।

बुद्धि का अर्थ है निश्चय करने की शक्ति। धृति का अर्थ है किसी ज्ञान, क्रिया या भाव को धारण करने की शक्ति। साधारण शब्दों में हम धृति का अर्थ धैर्य लगाते है।

सामान्यत: बुद्धि और धृति को हम सात्विक ही समझते हैं। बुद्धि कहने से हम सुबुद्धि ही मानते हैं और धृति को भी उत्तम गुण के रूप में ही लेते हैं। भगवान ने अभी-अभी सात्विक कर्ता के गुणों में भी धृति शब्द का प्रयोग किया था। बुद्धि और धृति सात्विक ही न समझी ली जाए अत: भगवान इसके भी तीन-तीन भेदों को सूक्ष्मता के साथ बताएंगे।

तीन प्रकार के गुण बताने के बाद फिर आहार, यज्ञ, तप, दान, श्रद्धा, कर्म, ज्ञान, बुद्धि, धृति आदि के तीन-तीन भेद इतने विस्तार में बताने का प्रभु का आशय सूक्ष्म आत्मनिरीक्षण की ही प्रेरणा देना है। देखा जाए तो तीनों गुणों के अनुसार जब तीन वृत्तियों का परिचय भगवान ने चौदहवें अध्याय में दिया तब ही बात पूरी समझ में आ जाती है। फिर सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें अध्याय में भी मनुष्यों के विचारों, भावनाओं और क्रियाओं का इतना विस्तृत विश्लेषण अनावश्यक लगता है। पर यह अनावश्यक है नहीं क्योंकि एक बार पढ़ या समझ लेने भर से वृत्तियां बदल नहीं जाती, इसके लिए बहुत अधिक विचार और प्रयत्न की आवश्यकता है। इस प्रकार इतने विस्तार में जाकर भगवान मानो यही कहना चाहते हैं- आत्म निरीक्षण करो। सबसे अधिक महत्वूर्ण अपने आप को यथा रूप पहचानना है तभी तुम सुधार के लिए सफलतापूर्वक प्रयत्न कर पाओगे। मन का स्वभाव होता है अपने गलत विचार और भावनाओं को बहानेबाजी कर उचित ठहराने की। मन यह लीपापोती न कर पाए इसीलिए भगवान एक-एक बात इतनी बारीकी से उधेड़ कर समझा रहे हैं।

सात्विक बुद्धि के विषय में भगवान कहते हैं:-

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३०।।

हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग, कर्तव्य और अकर्तव्य को, भय और अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को यथार्थ जानती है- वह बुद्धि सात्विक है।

बुद्धि का अर्थ है निश्चयात्मक विचार। हम बहुत कुछ जानते हुए भी बहुधा निर्णय नहीं ले पाते कि क्या करना चाहिए क्या नहीं, क्या सही है क्या गलत। जब तक हम संशय और दुविधा की स्थिति में झूलते हैं तब तक समझ लीजिए कि मन के खेल हो रहे हैं। जब विचार द्वारा किसी निश्चय पर पहुंच जाएं तो समझें कि बुद्धि ने कार्य किया है। बुद्धि की क्षमता, कुशलता,

गुणवत्ता आदि के अनुसार इसके द्वारा किए गए निश्चय सही-गलत अच्छे-बुरे सभी प्रकार के हो सकते हैं। सात्विक बुद्धि के अन्तर्गत भगवान उस बुद्धि का वर्णन कर रहे हैं तो तीक्ष्ण भी है, सूक्ष्म भी है। जो बारीकी से स्थिति का अवलोकन कर सही निर्णय लेती है, मन द्वारा प्रस्तुत किए गए विभिन्न विचार के जाल में फंसे बिना सत्य का ही अनुमोदन करती है।

यहां संशयात्मक द्वंद्वों के रूप में भगवान ने चार बातों का उल्लेख किया है, प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय तथा बन्धन-मुक्ति। ये चारों द्वंद्व बुद्धि को बहुत अधिक उलझाते हैं और इनकी उलझनों के बीच जो बुद्धि सही निर्णय ले पाए वही सात्विकी है।

प्रवृत्ति-निवृति :- किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हमें कुछ वस्तुओं व्यक्तियों और वृत्तियों को अपनाना पड़ता है और कुछ को छोड़ना पड़ता है। जैसे परीक्षा में अच्छे नम्बर लाने हो तो पढ़ाई में प्रवृत्त होना पड़ता है और खेल सिनेमा आदि से निवृत्त होना पड़ता है। जीवन के चरम लक्ष्य- मोक्ष प्राप्ति के दो तरीके बताए गए हैं प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग में संसार में कार्य करने की प्रधानता है और निवृत्ति मार्ग में सांसारिक कार्य छोड़ने की प्रधानता है। गृहस्थाश्रम में रहकर ही अपने कर्तव्य निष्काम भाव से करते हुए प्रभु की प्राप्ति के लिए प्रयासरत रहना प्रवृत्ति मार्ग है जिसके द्वारा जनक, वशिष्ठ आदि ने परमपद पाया था। संसार को त्याग कर, कर्मों और भोगों को त्याग कर संन्यास आश्रम में रहकर परमात्मा की प्राप्ति के लिए साधना करना निवृत्ति मार्ग है।

पहला संशय तो मन में उठता है कि हमें साधारण संसारी ही बने रहना है, या इसके अलावा इससे छूटने के लिए प्रयत्न करने हैं। फिर प्रश्न आता है कि साधना करनी है तो प्रवृत्ति मार्ग अपनाना उचित होगा कि निवृत्ति मार्ग। इसके लिए अपने संस्कारगत स्वभाव, बाह्य परिस्थितियों, अपनी क्षमता आदि का सूक्ष्म मूल्यांकन आवश्यक है। इन सबका ठीक-ठीक मूल्यांकन कर सही निर्णय पर पहुंचने की क्षमता रखना सात्विकी बुद्धि का लक्षण है।

कार्य-अकार्य :- प्रवृत्ति मार्ग अपनाएं या निवृत्ति मार्ग, दोनों में ही कुछ विशेष कार्यों में प्रवृत्त होना होगा और कुछ विशेष कार्यों से निवृत्त होना

होगा। गृहस्थाश्रम में रहकर साधना करनी है तब भी क्या करना चाहिए क्या नहीं यह बहुधा समझ में नहीं आता। कार्य अकार्य के सम्बन्ध में निर्णय ले पाने वाली बुद्धि सात्विकी है।

भय-अभय :- हमारे बहुत से कर्म और विचार भय से परिचालित होते हैं। हमें अज्ञात का भय लगता है, अपने सुखों के क्षीण हो जाने का भय लगता है। हम भयमुक्त यानी अभय होना चाहते हैं। भय क्या है, अभय क्या है इनको तत्व से जानने वाली बुद्धि सात्विकी है। वह समझ पाती है कि भय किन-किन कारणों से लगता है और किस प्रकार भय की निवृत्ति कर अभय की प्राप्ति की जा सकती है।

बंधन-मोक्ष :- बन्धन और मुक्ति क्या है, इसे ही समझना बहुत बार मुश्किल हो जाता है। यदि सूक्ष्मता के साथ विचार न करें तो बंधन को मोक्ष समझने लगते हैं और मोक्ष को बन्धन। उदाहरण स्वरूप मुझे लगता है कि मैं जो जी चाहे कर सकती हूं, जिस समय मेरा सोने का मन कर मैं सोऊं, जिस समय चाय पीने का मन करे उसी समय चाय पीयूं तो इसका अर्थ है मैं पूर्ण स्वतंत्र हूं- मुक्त हूं। मुझे पता नहीं कि मैं मन की गुलामी में कितनी बुरी तरह जकड़ी जा रही हूं। वास्तव में तो 'जो जी चाहे वह बिना किए रह पाना' ही मुक्ति है लेकिन इस बात को सात्विकी बुद्धि ही समझ पाती है। गृहस्थी समझता है कि मैं अपने बच्चों के सुख का विचार करूंगा तो बन्धन में पड़ जाऊंगा, संन्यासी सोचता है कि संसार त्याग कर गंगा किनारे एक कुटिया बनाकर रहूंगा तो मुक्त हो जाऊंगा। हो सकता है कि वह कुटिया उस संन्यासी को बुरी तरह बांध ले और परिवार के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाने का संतोष गृहस्थी को मुक्त कर दे। अतः बन्धन-मुक्ति के विषय में यथार्थ निर्णय अत्यन्त आवश्यक है। यह निर्णय ले पाने वाली बुद्धि ही सात्विकी है।

राजसी बुद्धि के लक्षण बताते हुए भगवान कहते हैं:-

यया धर्ममधर्मं च कार्यं च कार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।३१।।

हे पार्थ! जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य

को भी ठीक से नहीं जानता वह बुद्धि राजसी है।

राजसी बुद्धि तीक्ष्ण होती है। धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य का अन्तर समझती तो है पर ठीक ठीक नहीं। इसका कारण यह है कि बाहरी संवेग मन के राग द्वेष आदि की गंध लेते हुए बुद्धि तक पहुंचते हैं। बुद्धि निरपेक्ष, निर्लिप्त होकर वस्तुस्थिति का मूल्यांकन ठीक-ठीक नहीं कर पाती अतः न करने योग्य कार्य करने का निर्णय ले लेती है और करने योग्य कार्य की उपेक्षा कर जाती है।

कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म का विश्लेषण बहुत सूक्ष्म है। कहीं कोई सूची नहीं बनाई हुई है कि अमुक अमुक कार्य धार्मिक है और अमुक अमुक कार्य अधार्मिक। एक ही कर्म किसी के लिए धर्म हो सकता है और दूसरे के लिए अधर्म। जैसे गृहस्थ के लिए दान देना धर्म है, किसी के सामने हाथ फैलाना अधर्म, किन्तु संन्यासी के लिए भिक्षा पर निर्वाह करना ही धर्म है। इतना ही नहीं, भिक्षा का कार्य भी संन्यासी के लिए धर्म तभी बनेगा जब वह केवल उदर पूर्ति के लिए आवश्यक ग्रहण करेगा, अधिक लेकर संचय नहीं करेगा। और भी एक बात है- भिक्षा किसी पर दबाव डाल कर भी नहीं लेनी चाहिए।

इतने जटिल धर्म-अधर्म का निर्णय तो वही बुद्धि कर सकती है जो मोह रंजित न हो। यदि मन अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए बुद्धि पर दबाव डालता रहे और बुद्धि मन के अनुसार चलने का निर्णय ले ले तो उसका निर्णय निष्पक्ष और यथार्थ हो ही नहीं सकता। यही राजसी बुद्धि है।

तामसी बुद्धि के विषय में बताते हुए भगवान कहते है:-

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।३२।।

हे पार्थ! तमोगुण से घिरी हुई बुद्धि जो अधर्म को धर्म और सभी चीजों को उल्टा मान लेती है, वह तामसी है।

तामसी बुद्धि तमोगुण से आच्छादित होती है और तमोगुण का लक्षण है अज्ञान, मूढ़ता। यही कारण है कि वह उल्टा अर्थ लगाती है सबका। रजोगुण तो धर्म अधर्म का विश्लेषण करता है पर वासना, कामना, राग, द्वेष आदि उस विश्लेषण को प्रभावित कर देते हैं या धर्म-अधर्म का ज्ञान हो जाने पर भी अधर्म का मार्ग पकड़ने का निर्णय लेने पर बाध्य कर देते हैं, पर तामसी वृत्ति तो मूढ़तावश अधर्म को ही धर्म मान बैठती है। अपने आस पास नजर दौड़ाएं तो ऐसे बहुतेरे लोग मिल जाएंगे जो संत महात्माओं को भी गाली देते हैं। उनकी नजरों में भगवे वस्त्र धारण करना ही पाखण्ड है। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं जो कहें कि धर्म ने हमारे समाज का बेड़ा गर्क कर दिया, ऐसे भी लोग मिल जाएंगे जो कहते हैं वेदों को तो आग लगा दी जानी चाहिए और ऐसी मान्यता वालों की भी कमी नहीं जो कहते हैं कि यदि उन्नति करनी है तो पक्के स्वार्थी बनो। उनकी नजरों में किसी पर दया करना घोर मूर्खता है। इस प्रकार अधर्म को धर्म, पतन को उन्नति, अच्छे को बुरा, सीधे को उल्टा मानने वाली बुद्धि तामसी है।

अब धृति का विश्लेषण करना है। भगवान सर्वप्रथम सात्विक धृति के विषय में बताते हैं:-

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३३।।

हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारण शक्ति से मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है वह धृति सात्विकी है।

किसी भी क्रिया, विचार, आदर्श भाव, वृत्ति, लक्ष्य आदि पर दृढ़तापूर्वक रह पाने की शक्ति का नाम धृति है। धृति ही हमें लक्ष्य के प्रति दृढ़ता देती है और लक्ष्य प्राप्ति के लिए जब हम प्रयास करते हैं तब धृति ही हमें बल प्रदान करती है कि बाधाओं के बावजूद हम अपने मार्ग को छोड़ें नहीं। साधारण भाषा में हम धृति को धैर्य या धीरज कह सकते हैं पर ये शब्द

पूरी तरह से धृति के अर्थ को स्पष्ट नहीं करते, धारण शक्ति कहना ज्यादा उपयुक्त होगा।

सामान्यत: हम अनेकों विचारों को धारण करते हैं, अनेकों वस्तुओं को प्राप्य समझते हैं और विभिन्न वस्तुओं को पाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रयासों में रत रहते हैं। हमारी धारणा शक्ति हमें उत्साह और बल प्रदान करती है पर इस अवस्था में यह व्यभिचार युक्त है। जब लक्ष्य एक ही स्थिर हो जाता है तब अव्यभिचारिणी धृति हो जाती है।

सात्विकी धृति का एक ही उद्देश्य है- परमात्मा से योग। परमात्म प्राप्ति के लिए मन, इन्द्रियों और प्राणों की क्रियाओं को संयमित करना अत्यन्त आवश्यक है और जिस शक्ति द्वारा हमारी इन्द्रियां, मन, प्राण, प्रभु में अटके रह जाएं उसे सात्विक धृति कहते हैं। आंखें केवल मुरली मनोहर का रूप देखना चाहे, मन केवल उनकी लीलाओं और गुणों के चिन्तन में रमा रहे, प्राण भी उन्हीं में लगे रहे, उन्हीं को पुकारें, और यह अवस्था क्षणिक न हो सदा बनी रहे तो समझें कि धृति सात्विकी है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।।३४।।

परन्तु हे पार्थ! फल की इच्छा वाला मनुष्य जिस धारण शक्ति के द्वारा अत्यन्त आसक्ति से धर्म, अर्थ और काम को धारणा करता है वह धारणा शक्ति राजसी है।

सामान्य मनुष्य परमात्मप्राप्ति के एक ही लक्ष्य पर दृढ़ नहीं रह पाते। उनके हृदय में मुरली मनोहर के प्रति अनुराग उत्पन्न हो भी जाता है तो भी दृढ़तापूर्वक हृदय में स्थापित नहीं हो पाता। भगवान के साथ-साथ संसार भी चाहिए, भगवान न भी मिले तो चलेगा लेकिन शारीरिक, सांसारिक, सुविधाएं तो चाहिए ही। नीरोग काया भी चाहिए, भोग विलास की सामग्री भी चाहिए, आज्ञाकारी सुशिक्षित परिवार भी चाहिए, प्रतिष्ठा भी चाहिए। हम बड़े मनोयोग से लगे रहते हैं इन बहुआयामी प्रयासों में। शरीरिक स्वास्थ्य के लिए नियम

पूर्वक योगाभ्यास करते हैं, टहलने जाते हैं, फल का रस पीते हैं, संतुलित आहार लेते हैं। भोग विलास की सामग्री जुटाने के लिए धन चाहिए अतः धन के उपार्जन के लिए भी निष्ठापूर्वक कड़ी मेहनत करते हैं। अपनी संतान को अच्छी शिक्षा देने के लिए भी नाना प्रकार से प्रयास करते हैं। इन सब प्रयासों में नाना प्रकार की अड़चनें, विघ्न, बाधाएं आती है पर हम धैर्यपूर्वक सभी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करते हैं। यह राजसी धृति है।

भगवान कहते हैं कि राजसी धारण शक्ति द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ और काम को धारण करता है। मानव के लिए चार पुरुषार्थ हमारे शास्त्रों में बताए गए हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसमें मोक्ष को परम पुरुषार्थ मानने वाले सात्विकी पुरुष तो अन्य तीनों पुरुषार्थों का त्याग कर देते हैं उनके लिए तो प्राप्य केवल परमात्मा ही है पर बाकी सब लोग कमोबेश तीनों को ही पाना चाहते हैं। साधारणतः हमारी इच्छा तो रहती है कि धन भी हो, भोग भी हो किंतु अपना धर्म तो छोड़ कर नहीं। धर्म हमारे जीवन में बना ही रहे। धर्म भी हमारे जीवन के लिए 'फल' है जिसकी हम आकांक्षा करते हैं और उसके लिए नाना प्रकार के कर्मों से बंधे रहते हैं। इस प्रकार राजसी धृति हमें कर्मों से बांधने वाली है।

तामसी धृति के विषय में बताते हुए भगवान कहते हैं:-

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।।३५।।

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य जिस धारण शक्ति के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुख और उन्माद को भी नहीं छोड़ता (धारण किए रहता है)- वह धारण शक्ति तामसी है।

धारण शक्ति हमें कहती है- लगे रहो, लगे रहो। सात्विकी पुरुष तो एक परम लक्ष्य के प्रति समर्पित रहता है, राजसी पुरुष अनेकों सिद्धियों, भोगों की प्राप्ति के प्रयत्नों में जुटा रहता है तो तामसी क्या करता है? वह भी लगा रहता है- लेकिन मूढ़ता के कारण उन कर्मों में लगता है जिनमें नहीं लगना

चाहिए। छः घण्टे की नींद ले ली, थकान मिट जानी चाहिए। दैनिक कार्य में लगना चाहिए, पर वह तो नींद में ही लगा रहता है। स्वप्न देख रहा था, आंख खुल गयी, समझ में आ गया कि मेरी ओर लपकने वाला यमदूत स्वप्न का था फिर भी भयभीत बना रहता है। शोक दुख की स्थिति आती है तो उनसे छूट कर अपना चित्त दूसरी ओर लगाने का प्रयत्न नहीं करता, उन्हीं में डूबा रहता है। अपने से मिलने के लिए आने वालों को भी विषाद में डाल देता है। ईश्वर कृपा से यदि किसी सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है तो उन्मत्त हो जाता है और लोगों को लाख समझाने पर भी घमंड को त्यागना नहीं चाहता। ऐसे व्यक्ति को भगवान दुर्बुद्धि कहते हैं और उसकी धृति को तामसी धृति।

धृति के तीन भेद बताने के बाद भगवान सुख के भी तीन भेद बताने की भूमिका बांधते हैं-

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।।३६।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।।३७।।

हे भरत श्रेष्ठ! अब तीन प्रकार के सुख को भी तुम मुझसे सुनो। जिसमें अभ्यास से रमण होता है और जिससे दुखों का अन्त हो जाता है।

जो आरम्भ में विष के तुल्य प्रतीत होता है किन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य है वह परमात्म विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला सुख सात्विक कहा गया है।

छत्तीसवें श्लोक में भगवान ने तीन प्रकार के सुखों का वर्णन कर भूमिका बांधने के बाद सात्विक सुख का निरूपण आरम्भ कर दिया जिसका समापन सैंतीसवें श्लोक में हुआ है अतः दोनों श्लोकों को साथ पढ़ा जाना चाहिए। सात्विक सुख के भगवान ने जो-जो लक्षण बताए हैं उन्हें हम एक-एक कर समझने का प्रयत्न करेंगे।

सात्विक सुख परमात्म विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होता है- किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति से हमें सुख मिलता है या दु:ख इसका निर्णय बुद्धि करती है। यदि मन में किसी वस्तु की अभी कामना है और वह मिल गई तो बुद्धि सुख शांति का संकेत देती है- हमें खुशी होती है। लड्डू खाने की इच्छा है- मिल गया तो सुख का अनुभव हुआ। वही लड्डू हो सकता है कि एक घंटे बाद मिले और हमारा पेट भरा हो तो हमें सुख का अनुभव नहीं होगा, जबकि वह मेरी मनपसन्द मिठाई है। इस प्रकार मन के इशारों पर चलने वाली बुद्धि क्षण-क्षण में सुख-दु:ख के निर्णय सुनाती रहती है पर जिस बुद्धि ने परमात्मा को ही प्राप्य मान लिया हो, आत्मज्ञान को ही लक्ष्य रूप से प्रतिष्ठित कर लिया हो, वह कामना द्वारा संचालित नहीं होती।

सामान्य जीवन में हम देखते हैं कि कभी-कभी ऐसा शांत, पवित्र या सुन्दर वातावरण मिल जाता है कि मन की सारी हलचल, छटपटाहट समाप्त हो जाती है। इस स्थिति में हमें बहुत सुख का अनुभव होता है और यह सुख लड्डू आदि से मिलने वाले सुख से बिल्कुल ही भिन्न है। कामना पूर्ति का सुख और कामना विहीनता का सुख एकदम अलग है। इसे ही प्रसाद कहते हैं। जो बुद्धि आत्मा विषयक होती है, वह लड्डू खाने पर सुख का संकेत देना बंद कर देती है और प्रसाद को सुख बताती है। यही सात्विक सुख है।

सात्विक सुख में अभ्यास द्वारा रमण करता हुआ पुरुष दु:ख से छूट जाता है- सात्विक सुख की बात अभी सुनने-पढ़ने में अच्छी तो बहुत लगी, पर इस सुख का स्वाद चखने के लिए भी अभ्यास करना पड़ता है। वैसे देखें तो शराब से मिलने वाले सुख का भी पहले अभ्यास करना पड़ता है, बाद में धीरे-धीरे उसमें मजा आने लगता है। फिर सात्विक सुख तो वैसे ही चमक-दमक विहीन है। सामान्य व्यक्ति को तो लगता ही नहीं कि इसे सुख कहना चाहिए। कुछ तो यहां तक सोचते हैं कि यदि अध्यात्म मार्ग पर कदम रख दिया, सत्संग अधिक कर लिया तो अच्छे भोजन, सुन्दर वस्त्र, नए-नए भोगों के प्रति रुचि ही नहीं रहेगी तब जीवन में रस ही चला जाएगा। वे इस बात को नहीं समझते कि हमारा मन इतना चालाक है कि बिना बड़े रस की प्राप्ति के छोटे रस को छोड़ने वाला नहीं, लेकिन इसके लिए कुछ अभ्यास

चाहिए ही। क्यों- यह आगे की बात से और स्पष्ट हो जाएगा।

सात्विक सुख आरम्भ में विष तुल्य और अन्त में अमृत तुल्य प्रतीत होता है- सामान्यत: हमारे जीवन में सुख-दु:ख का मापदण्ड मन द्वारा निर्धारित होता है और कामना से सीधा संबंध रखता है। एक व्यक्ति आज तक सोचता रहा है कि मेरी अमुक-अमुक कामनाएं पूरी हो जाएं तो मैं सुखी हो जाऊंगा और कल उसे कह दिया जाए कि तुम सारी की सारी कामनाएं त्याग दो उसे कैसा लगेगा? उसके पास टीवी, वीडियो, टेपरिकार्डर, कूलर, सब कुछ है पर कार खरीद पाने की सामर्थ्य नहीं है और वह इस कामना से दुखी है। न वह पूरी कर पा रहा है न इस कामना को छोड़ पा रहा है। जब एक कामना को छोड़ने का प्रयत्न इतना कष्टकर है तब सारी की सारी कामनाओं को छोड़ने की बात विषतुल्य ही लगेगी। किन्तु यही एक मात्र रास्ता है जिसके द्वारा स्थायी सुख यानी अमृत फल की प्राप्ति हो सकती है।

राजस सुख के लक्षण बताते हुए भगवान कहते हैं:-

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।३८।।

जो सुख विषयों के संयोग से प्राप्त होता है, वह पहले अमृत तुल्य प्रतीत होने पर भी परिणाम में विष के तुल्य है, इसलिए वह सुख राजस कहा गया है।

हममें से अधिकांश लोगों को इस सुख का भरपूर अनुभव है इसलिए इसे समझने के लिए बस जरा से आत्मनिरीक्षण की ही आवश्यकता है। अपने जीवन को देखें तो हम पाएंगे कि जिस वस्तु व्यक्ति से हमें सबसे अधिक सुख मिलता है, दुख का भी उतना बड़ा कारण वही बनता है। पत्नी को जितना सुख पति से मिलता है उतना किसी दूसरे पुरुष से नहीं, किन्तु दूसरे पुरुष उसके दुख का भी कारण नहीं बनते। पति की नाराजगी, उसका गुस्सा, उसका देर से आना, उसका समय से न खाना, उसके लिए रखे नाश्ते का ठंडा हो जाना तक भी कभी कभी महान युद्ध और दुख का कारण बन जाता है।

सुख तो वास्तव में बुद्धि के प्रसाद यानि कामनाविहीनता में है किंतु हम कल्पना कर लेते हैं कि सुख अमुक व्यक्ति या वस्तु में है। वस्तुएं है अस्थायी और हम उनसे सुख चाहते हैं स्थायी। यह भला कैसे सम्भव है! अतः दुख मिलता है सो तो मिलता ही है, सुख का मिलना भी प्रतीति मात्र ही है। जितना तीव्र सुख मिला था उसके चले जाने पर उतना ही तीव्र दुख अवश्य मिलेगा। जो हमें अमृत जान पड़ रहा था उसकी परिणति दुख में होगी ही।

तामस सुख का वर्णन करते हुए भगवान कह रहे हैं-

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मानः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।३९।।

जो सुख भोग काल में तथा परिणाम में भी आत्मा को मोहित करने वाला है वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है।

संतों ने कहा कि कामना विहीनता में सुख है। हमने आत्म निरीक्षण किया तो पाया कि हर समय सैकड़ों कामनाएं हमें घेरे रहती हैं, एक मात्र समय जब कामना हमें नहीं परेशान करती- वह है नींद का समय। सुषुप्ति की अवस्था कामना रहितता की अवस्था है और नींद में बड़ा सुख मिलता है, यह तो हमें पता चलता ही है। यानी हमने तो संतों द्वारा बताए सच्चे सुख का अनुभव कर लिया है। हम जितना सोएंगे उतना सुखी होंगे।

भगवान यहां बता रहे हैं कि यह सुख अवश्य है किन्तु तामसी सुख है। तामस के अन्तर्गत उन्होंने जितनी बातें बताई वे सब छोड़ने का प्रयत्न करना है। सत्व रजस तमस को हम 'सु', 'अ' और 'कु' उपसर्ग लगाकर समझ सकते हैं। सात्विक यज्ञ यानी सुयज्ञ- जिन्हें करना चाहिए। राजसी यज्ञ यानि अयज्ञ- जो यज्ञ होकर भी वास्तव में यज्ञ नहीं और तामसी यज्ञ यानी कुयज्ञ- जो करने ही नहीं चाहिए। इसी प्रकार सात्विक बुद्धि सुबुद्धि है, राजसी बुद्धि अबुद्धि यानी प्रतीत होते हुए भी परिणाम की दृष्टि से बुद्धिमानी का न होना और तामसी बुद्धि यानि कुबुद्धि जिससे बचना चाहिए।

इसी प्रकार सात्विक सुख सुसुख था। राजसी सुख असुख था और तामसी सुख कुसुख है जिसका परिणाम बहुत ही खराब है।

वास्तव में निद्रावस्था का जो सुख है वह इसलिए है कि सुख दु:ख के प्रति हमारे मस्तिष्क की चेतना सुन्न हो जाती है। इसी का गहनतर सुख नशे का सुख है जिसमें नाली में गिरने के बाद भी व्यक्ति आनन्दित रहता है और इसी का गहनतम सुख क्लोरोफार्म से मिलने वाला सुख है जिसमें चेतना पूरी तरह शून्य हो जाती है।

नींद के सुख की प्रतीति भी नींद से उठने के बाद ही हो सकती है। तभी हम कहते हैं- 'आज मैं सुख की नींद सोया।' शरीर की थकान मिटाने, अपने अंगों को आवश्यक विश्राम देने के लिए सोना तो हमारे नित्य कर्मों का एक आवश्यक अंग है किन्तु 'सुख' के लिए सोना तामसिक प्रवृत्ति है। यह हमें मोहित कर देता है जिसके कारण हम अपने परिवेश को नहीं जान पाते। ऐसे ही कुछ अन्य सुख हैं जो हम होश गंवा कर पाते हैं। ये सब प्रमाद जनित तामसिक सुख है।

सुषुप्ति का सुख निम्नतम और तुरीयावस्था यानी समाधि का सुख उच्चतम सुख है। दोनों में हम शरीर मन बुद्धि की सामान्य क्रियाओं से परे हो जाते हैं पर सुषुप्ति में चेतना भी शून्य हो जाती है और तुरीयावस्था में चेतना अपने प्रखरतम रूप में रहने के कारण उसका भी अनुभव कर लेती है जिसका हम जाग्रत अवस्था में नहीं कर पाते। तामसी सुख की चाह करेंगे तो तात्कालिक परिणाम भी खराब होगा और वैसे सुख के प्रति राग का दूरगामी परिणाम भी विनाशकारी होता है।

अनेकानेक वृत्तियों, कर्मों और सुख का भी त्रिगुणात्मक स्वरूप दिखाने के बाद उपसंहार करते हुए भगवान कहते है:-

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।४०।।

न ही पृथ्वी पर और न ही स्वर्ग में देवताओं में कोई भी ऐसा प्राणी है जो प्रकृति के इन तीन गुणों से मुक्त हो।

भगवान ने इतने विस्तार से तीनों गुणों के विभाजन का जो वर्णन किया उससे हमें समझ में आता है कि एक प्राणी को बनाने वाले उसके कर्म, वृत्तियों, विचारों आदि में कितनी विभिन्नताओं की सम्भावनाएं हैं। अठारहवें अध्याय में ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख आदि बातों के तीन तीन भेद गिनाए। इसके पहले सत्रहवें अध्याय में सम्पूर्ण प्रकृति को ही त्रिगुणात्मिका बताया है। कितने सारे गुण हैं, कितने प्रकार के कर्म हैं और उन सबके तीन तीन विभाग कुल मिलाकर कितनी विभिन्नताएं हुई। फिर इन सबकी मात्रा में भी विभिन्नताएं हो सकती है।

क महाशय 'क' इसलिए है कि वे अमुक ढंग से सोचते हैं, अमुक ढंग से कर्म करते हैं, अमुक ढंग से व्यवहार करते हैं। 'ख' महाशय 'ख' हैं और वे 'क' से भिन्न इसलिए हैं कि वे अलग ढंग का स्वभाव, व्यवहार, विचार, कर्म आदि रखते हैं। विभिन्नताओं की सम्भावनाएं इतनी अधिक है कि संसार में कोई भी दो व्यक्ति पूरी तरह एक जैसे हैं ही नहीं।

इस प्रकार अलग अलग प्रणियों में तीनों गुणों की मात्राएं भिन्न भिन्न हो सकती है पर भगवान का कहना यह है कि तीनों गुणों की उपस्थिति होनी निश्चित है। पृथ्वी तो क्या स्वर्ग लोग के देवताओं में भी कमोबेश रूप में तीनों ही गुण मौजूद होंगे ही। इससे यह स्पष्ट है कि इन तीन गुणों से हम छूट नहीं सकते। हम चाहें कि केवल सत्वगुण ही रहे तो वह भी सम्भव नहीं और हम चाहे कि कोई भी गुण न रहे तो वह भी नही हो सकता।

तात्पर्य यह है कि कोई भी प्राणी गुण रहित यानी निर्गुण नहीं हो सकता। निर्गुण तो केवल ब्रह्म ही है। प्राणी प्रयत्न करे तो गुणातीत हो सकता है जिसका वर्णन भगवान ने चौदहवें अध्याय में किया था। गुणों से छूट नहीं सकते पर उनका अतिक्रमण कर सकते हैं। यानी उन गुणों के आने जाने और प्रभाव छोड़ने की क्रियाओं को द्रष्टा भाव से देखने का प्रयत्न करें, विवेक द्वारा उन्हें आने जाने वाला मानते हुए उससे प्रभावित न होने की साधना करें तो हमारा जीवन सार्थक हो सकता है। हम उच्चतम स्थिति तक पहुंच सकते हैं।

इस प्रकार तीनों गुणों के प्रभावों का विशद् विवेचन करने और तीनों

गुणों की उपस्थिति की अवश्यम्भाविता बताने के बाद भगवान वर्ण व्यवस्था का सूत्र पकड़ते हैं जिसका जिक्र उन्होंने दूसरे अध्याय में **'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः'** कहते हुए किया था। वह तो भूमिका के रूप में संकेत मात्र था। अब हमने तीनों गुण और उसके अनुसार कर्मों के विभाग को बड़े ही विस्तार से समझ लिया है अतः गुण कर्म विभाग के अनुसार वर्णव्यवस्था की बात बहुत अच्छी तरह समझ में आ जाएगी।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।४१।।

हे परंतप, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार विभक्त किए गए हैं।

पहले जैसा हमने देखा, सत्व, रजस, तमस की न्यूनाधिक मात्रा के मिश्रण से अनगिनत स्वभाव वाले व्यक्ति बनते हैं। उनमें पूर्णतः साम्य तो नहीं हो सकता फिर भी कुछ विभागीकरण तो किया ही जा सकता है। स्वभाव में उपस्थित गुणों के अनुरूप ही उनके कर्म होते हैं अतः भगवान ने गुण कर्मों के अनुसार चार प्रकार के विभाजन किए हैं- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। ये चार वर्ण केवल हिन्दुओं में ही नहीं। सम्पूर्ण मानवता को इन चार विभागों में बांटा जा सकता है क्योंकि इनका आधार राष्ट्र या मजहब नहीं बताया गया। सत्व रजस तमस भारत के लोगों में नहीं, सभी देशों के लोगों की प्रकृति में उपस्थित है। गुणों की मात्रा के अनुसार इनका वर्गीकरण हम निम्न प्रकार से कर सकते हैं-

१. जिनमें प्रधानतः सत्व गुण हो और अल्प मात्रा में रजो गुण तथा अत्यन्त अल्प तमो गुण हो वे ब्राह्मण कहलाते हैं।

२. जिनमें रजो गुण की प्रधानता हो इसके साथ काफी मात्रा में सत्व गुण और अल्प मात्रा में तमोगुण हो ऐसे सत्व मिश्रित रजो गुणी व्यक्ति क्षत्रिय कहलाते हैं।

३. जिनमें रजोगुण की प्रधानता हो, इसके साथ काफी मात्रा में तमोगुण

और अल्प मात्रा में सत्वगुण हो ऐसे तमो मिश्रित रजो गुणी व्यक्ति वैश्य कहलाते हैं।

४. जिनमें प्रधानता तमोगुण की ही हो, अल्प मात्रा में रजो गुण और अत्यन्त अल्प मात्रा में सत्वगुण हो ऐसे व्यक्ति शूद्र कहलाते हैं।

बिल्कुल स्पष्ट है वर्ण व्यवस्था का आधार स्वभाव है और स्वभाव के अनुसार होने वाले कर्म हैं। किन्तु फिर भी विडम्बना ही है कि हमने इसे अत्यन्त भ्रामक तरीके से ग्रहण किया है जिसके कारण समाज टुकड़े टुकड़े में बंटा नजर आता है और हम इसके लिए दोषी अपने धर्म को ठहरा देते हैं। ये शब्द तो पुराने पड़ गए हैं। आज जब हम विचाकर मनीषियों की बातें करते हैं, राजनेताओं की बातें करते हैं, व्यवसायी वर्ग और कर्मचारी वर्ग की बात करते हैं तो क्या कभी सोचते हैं कि से चार वर्ग केवल भारत में हैं दूसरी जगह नहीं। विचारक, राजनेता, व्यवसायी और कर्मचारी ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के आधुनिक नाम हैं और किसी भी राष्ट्र के किसी भी क्रियाशील व्यक्ति को ले लीजिए, वह इन चारों में किसी न किसी श्रेणी में अवश्य आएगा।

हमारी वर्ण व्यवस्था का आधार **स्वाभाविक** कर्म हैं यह आगे के विवेचन से बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा। सर्वप्रथम ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म बतलाते हुए भगवान कहते हैं:-

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ।।४२।।

शम अर्थात् अंत:करण का संयम, दम अर्थात् इन्द्रियों का दमन, तप, भीतर बाहर की शुचि, क्षमाशीलता, मन की सरलता, ज्ञान, विज्ञान अर्थात् ज्ञान के अनुसार वर्तन तथा आस्तिकता अर्थात् ईश्वर में श्रद्धा- ये सब ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म है।

जिस व्यक्ति के स्वभाव में सत्वगुण की प्रधानता होगी वह शांत सरल होगा ही, रजोगुण की अल्पता के कारण उसका मन कामना और राग द्वेष

से चलायमान नहीं होगा अत: मन के साथ-साथ इन्द्रियां भी नियंत्रित होंगी। ऐसे में वह जो कुछ करेगा ज्ञान के अनुरूप ही करेगा क्योंकि ज्ञान होते हुए भी हम गलत काम यदि करते हैं तो उसका कारण या तो रजोगुणी राग होता है या तमोगुणी प्रमाद। संसार के आकर्षण से निर्लिप्त रह पाने वाला ऐसा व्यक्ति निश्चित रूप से सत्य को जानना चाहेगा, इस विविधतामय संसार में एक परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव करने का प्रयत्न करेगा।

इस प्रकार इस श्लोक में जो गुण गिनाए गए हैं वे सभी सत्वगुणी व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से विद्यमान होंगे। उसे बलपूर्वक सिखाने की आवश्यकता नहीं होगी कि तुम इन्द्रियों का दमन करो, मन को शुद्ध करो, शास्त्रों का अध्ययन करो। उसकी तो रुचि ही नहीं होगी विषयों के विचरण में। भगवान कहते हैं कि स्वाभाविक रूप से जो व्यक्ति ये कर्म करता है वह ब्राह्मण है।

स्पष्ट है कि ब्राह्मण पोथी पढ़ा-पढ़ा कर बनाए नहीं जा सकते, और न ही एक कुल के सभी व्यक्ति ब्राह्मण हो सकते हैं। सभी विशेष स्वभाव रखते हैं और स्वभाव के अनुसार ही उनकी रुचि विशेष कर्मों में होती है। भगवान कहीं नहीं कहते कि ब्राह्मण का विशेष कुल होता है और ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति ब्राह्मण होता है। यदि हम भगवान के दृष्टिकोण से देखें तो विचारक, विद्वान, कलाकार, वैज्ञानिक आदि ब्राह्मण वर्ग के कहे जाएंगे। इनकी रुचि सांसारिक भोग विलासों में होती ही नहीं। न ही ये कठोर शरीरिक परिश्रम कर पाते हैं और न ही ये अपना जीवन पड़े रहकर या सोकर गंवाना चाहते हैं। ये सब मनस्वी तपस्वी होते हैं किन्तु इनका तप मानसिक और बौद्धिक धरातल का होता है। ये शारीरिक परिश्रम भले ही नहीं करते किन्तु शारीरिक सुख आराम का त्याग बहुत ही सहजता के साथ कर देते हैं। प्रयोगशाला में कार्य कर रहे वैज्ञानिक की पत्नी तो परेशान ही इसी बात पर रहती है कि उसका पति रुचि लेकर उसके बनाए व्यंजन खाता क्यों नहीं और रात के दो-दो बजे तक भी सोता क्यों नहीं। यह शम दम उस वैज्ञानिक का स्वभाव है, उसे उसी में आनन्द आता है। वह स्वभाव से ब्राह्मण है, ब्राह्मण छोड़ कर और कुछ हो ही नहीं सकता।

अब भगवान क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्मों का वर्णन करते हैं:-

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।४३।।

शौर्य, तेज, धैर्य, चतुरता (दक्षता), युद्ध में न भागना, दान देना और स्वामी भाव- ये सब क्षत्रिय के स्वभाविक कर्म हैं।

कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही ऐसे होते हैं कि अत्यधिक बौद्धिक कार्यों में उनकी रुचि नहीं होगी। वे कठोर श्रम करना चाहते हैं, खतरों में खेलने में उन्हें मजा आता है, उन्हें युद्ध यानी संघर्षपूर्ण जीवन पसन्द है। जीवन की चुनौतियां उन्हें डरा नहीं पाती बल्कि उनमें दूना जोश भर देती है। ऐसे व्यक्तियों के स्वभाव में रजस हिलोरे लेता रहता है जो उन्हें घोर कर्म में लगाता है किन्तु रजस के साथ-साथ कुछ मात्रा में सत्व भी रहता है तो वृत्तियां त्यागमयी होती हैं स्वार्थमयी नहीं। स्वाभाविक रूप से ऐसे व्यक्ति अपने सुख आराम और सुरक्षा की चिन्ता न कर दूसरों की रक्षा के लिए खतरा उठाने तैयार रहते हैं। दूसरों के सुख के लिए श्रम करने, त्याग करने में इन्हें आनन्द आता है। ये स्वभाव से ही ऐसे हैं। इन्हें यदि लाइब्रेरी में चार घंटे बिताने को कह दें तो इनका दम घुट जाएगा, लेकिन इन्हें यदि पांच सितारा होटल में एक सप्ताह बिताने की कह दें तो खाओ, पियो, मौज करो का जीवन भी उन्हें नरक जैसा लगेगा। वे राजसी जीवन पसन्द करेंगे, लेकिन केवल अपने शारीरिक सुख के लिए नहीं। इसके साथ उन्हें कुछ सार्थक कर्म चाहिए।

सच्चे राजनेता, समाज सेवी, सेना के कमान्डर इत्यादि इसी क्षत्रिय वर्ग के हैं। वे अपने देश, अपने आदर्श, अपनी आन बान के लिए मर मिटने में संकोच नहीं करते। ये उत्साही होते हैं। चिंतनशीलता के अभाव की पूर्ति ये विद्वानों अर्थात् ब्राह्मणों से सलाह लेकर करते हैं। राजनीति शास्त्र, अर्थ शास्त्र के विद्वानों की सलाह से ही राजनेता देश के लिए नीतियां निर्धारित करते हैं और उन्हें लागू करने का प्रयास करते हैं।

क्षत्रिय का भी कोई विशेष कुल या वंश न बताकर विशेष स्वभाव या कर्म ही बताया गया है। व्यक्तिगत स्वार्थ को त्यागकर कर्म करने वाला

हर कर्मठ व्यक्ति क्षत्रिय है।

अब वैश्य और शूद्र के स्वभाव और कर्म की बारी है:-

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।४४।।

खेती गोपालन और वाणिज्य- ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं। परिचर्यात्मक कार्य यानि अन्य वर्णों के आदेशानुसार कर्म करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है।

जिन व्यक्तियों में क्षत्रियों के समान रजस यानि कर्मठता की प्रधान रहती है किन्तु इसके साथ-साथ पोषक तत्व के रूप में सत्व न होकर तमस रहता है, वे घोर कर्म करना तो चाहते हैं, पर शरीर को कष्ट देकर नहीं। कर्म के पीछे उनकी भावना सुख, आराम, भोग की होती है। ये वैश्य हैं और इनकी स्वाभाविक रुचि व्यापार, खेती, पशुपालन इत्यादि में होती है।

जो तमोगुण प्रधान होते हैं उनके लिए सर्वोपरि आराम होता है। वे न तो स्वतंत्र रूप से चिन्तन या सृजन कर सकते हैं न जीवन को चुनौती के रूप में स्वीकार करते है। विलासितापूर्ण जीवन और ऐश्वर्य की महत्वाकांक्षा भी उनमें नहीं होती क्योंकि रजस का अभाव है। किन्तु जीवन निर्वाह के लिए कर्म तो आवश्यक हैं ही अत: ये काम करते तो हैं पर इसके लिए योजनाएं नहीं बना पाते न ही संघर्ष उन्हें पसन्द है। स्वाभाविक रूप से ही ऐसे लोग चाहेंगे कि दूसरा उन्हें बताता जाए वैसे वैसे काम कर लें। ये ही परिचर्यात्मक कर्म हैं, और ऐसे कर्मचारी वर्ग के लिए ही शूद्र शब्द का व्यवहार किया गया है।

वर्ण व्यवस्था कर्मानुगत या वंशानुगत

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भगवान ने वर्णों का विभाजन स्वभाव से किए जाने वाले कर्मों के अनुसार किया है, फिर भी हम ब्राह्मण

कुल, क्षत्रिय कुल आदि की बातें कैसे करने लगे? जाति प्रथा का प्रदूषण समाज में कैसे व्याप्त हुआ यह एक विचारणीय विषय है।

बात यह है कि व्यक्ति का स्वभाव बनाने में कुछ तो उसके जन्मजात संस्कार होते हैं और कुछ उसके परिवेश का असर होता है। माता-पिता या अन्य सम्बन्धियों को वह जिस प्रकार के कर्म करते देखता है, जैसा व्यवहार करते देखता है, वैसे कर्म, वैसा व्यवहार अपनाना उसके लिए बहुत सरल और सहज होता है। जो बालक छोटी आयु से देखता है कि पिता अध्ययन में डूबे रहते हैं, जिसके घर में कपड़ों की आलमारी से अधिक बड़ी पुस्तकों की आलमारी हो वह स्वाभाविक रूप से उनमें रुचि लेने लगता है और इस प्रकार ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण बन जाता है। इसी प्रकार जो बालक बचपन से पिता को खेती बारी करते देखता है उसे खेती सबंन्धी ज्ञान अनायास ही प्राप्त हो जाता है। जिसके घर में कारखानों की बातें होती है वह मैनेजमेंट की बातें अपने आप जान लेता है और जो माता पिता स्वयं बहुत चिन्तनशील नहीं होते, न ही दिलेर, साहसी या महत्वकांक्षी होते हैं वे अपने बच्चों का लालन पालन भी उसी प्रकार करते हैं। इस तरह हमारे समाज में टीचर क्लास, बिजनेस क्लास, सर्विस क्लास आदि के लोग बन गए हैं। जब हम 'क्लास' शब्द का व्यवहार करते हैं तब हमारी धारणा संकुचित नहीं होती। हम कभी नहीं सोचते कि सर्विस क्लास का युवक बिजनेस कर ही नहीं सकता किंतु क्लास के स्थान पर जब हम वर्ण शब्द का व्यवहार करते हैं तो हम कट्टर हो जाते हैं। उसे धर्म से जोड़ देते हैं क्योंकि इस शब्द का उल्लेख हमारे धर्म शास्त्रों में है और धर्म शास्त्रों का अध्ययन कभी हमने किया नहीं है। जातिगत भेदभाव का जहर हमारे ही अज्ञान के कारण समाज में फैला है।

एक बदलाव तो आया है। अब एक कुल के लोग दूसरे की जीवन पद्धति निस्संकोच अपनाने लगे हैं। ब्राह्मण वर्ग पूजा पाठ तक सीमित नहीं रहा। बड़ी संख्या में वे लोग नौकरी-पेशा बनते जा रहे हैं। विडम्बना यही है कि फिर भी वे अपने को मानेंगे ब्राह्मण ही और इस प्रकार नौकरी करने वाले अन्य लोगों से अपने को अलग कर लेते हैं। इस विभाजन को हवा देने वाले पहले तो धर्म के तथाकथित ठेकेदार थे, अब इनके स्थान पर कुर्सी लोलुप भ्रष्ट नेता हैं। इसके लिए धर्म की दुहाई देना बिल्कुल गलत है। धर्म

तो लोगों में एकात्मकता लाता है उन्हें विभाजित नहीं करता।

भगवान का यह विभाजन भी वास्तव में समाज में समरसता लाने के लिए है यह आगे स्पष्ट हो जाएगा। भगवान कहते हैं:-

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।४५।।

अपने स्वभाविक कर्मों में तत्परता से लगा हुआ मनुष्य सिद्धि को प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्मों में लगा हुआ मनुष्य किस प्रकार सिद्धि को प्राप्त करता है उस विधि को तुम सुनो।

भगवान ने पहले तो गुणों की मात्रा और मिश्रण के अनुसार चार विभाजन किए और अब कह रहे हैं कि चारों ही वर्णों के लोग अपना-अपना स्वाभाविक कर्म करते हुए परम पद पा सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ऊंच-नीच की भावना से वर्ण व्यवस्था नहीं बनाई गई है। प्रथम तो भगवान कुल की बात नहीं कहते ही नहीं, स्वभाव की ही बात कहते हैं और उसमें भी यह नहीं कह रहे कि ब्राह्मण स्वभाव का व्यक्ति महान है, क्योंकि वह परमपद का अधिकारी है और शूद्र अधम है, उसे सिद्धि मिल ही नहीं सकती। वे तो यहां स्पष्ट कह रहे हैं कि चारों वर्णों के लोग सिद्धि पा सकते हैं यदि वे अपने-अपने स्वाभाविक कर्म उनके द्वारा बताई विधि के अनुसार करें।

यही तो गीता की विशेषता है। वैसे संदेश तो यही उपिनषद् भी देते हैं। गीता में उपनिषदों से भी भिन्न बात नहीं कही गई है पर भगवान ने उसे अनूठे ढंग से प्रस्तुत किया है और हमारे व्यवहारिक सांसारिक जीवन के निम्न से निम्न स्तर पर भी धर्म की स्थापना कर दी है। किसी को कोई भी भ्रम न रहे कि परम पद की प्राप्ति के लिए कोई विशेष अनुष्ठान या कर्म की आवश्यकता है। बार-बार भगवान जोर देकर केवल भावनाओं को बदलने की ही बात कहते हैं।

भगवान का दिव्य संदेश है कि ब्राह्मण कभी नहीं सोचे कि मैं तो बड़ा बुद्धिमान, बड़ा विचारक हूं, मेरी बराबरी कोई नहीं कर सकता। शूद्र

कभी यह सोचकर हीन भावना न लाए कि मुझमें तो बौद्धिक क्षमता है ही नहीं मैं तो अधम हूं। सभी भगवान की संतान हैं और सभी उनकी दृष्टि में एक हैं।

यह वर्गीकरण उन्होंने इसलिए किया कि हम अपने खानदान आदि की बात न सोचकर अपनी क्षमाताओं का मूल्यांकन स्वयं करें, समझें कि हम स्वभाव के अनुसार किस वर्ण के हैं और इसी के अनुरूप कार्य का चुनाव करें।

स्वाभाविक कर्म का महत्व समझना आवश्यक है। हम अपने जीवन में जिन-जिन भावनाओं, वासनाओं का पोषण करते हैं उन्हीं के अनुसार हमें अगला जन्म मिलता है। हम स्वभाव से ही उन वासनाओं के शिकार होते हैं। हमारा जन्म ही हुआ है कि उन विशिष्ट वासनाओं के अनुरूप कार्य कर उनसे मुक्त हो जाएं। इसलिए जब हमें यह लगे कि अमुक कार्य किए बिना रहा ही नहीं जाता तो उसे कर लेना चाहिए ताकि उसकी वासना समाप्त हो जाए। वासना के अनुरूप कार्य करने का अर्थ यह नहीं कि किसी को दूसरों को रुलाने, मारने, पीटने में बड़ा मजा आता हो तो वह यह सोच ले कि भगवान श्रीकृष्ण ने तो उसे लाइसेंस दे दिया है, वह जो चाहे कर सकता है।

'जो चाहे' करने के अन्तर्गत निषिद्ध कर्म नहीं आते। हमें यह देखना है कि हम ब्राह्मणोचित कर्म करें कि क्षत्रियोचित या वैश्य और शूद्र के लिए बताए कर्म करें। यदि हमारा झुकाव अर्थोपार्जन की ओर है तो यह न सोचें कि अर्थ को अनर्थ की जड़ बताया गया है। चाहे जो हो जाए, धन कमाने का काम छोड़कर अध्ययन में लगना है। ऐसा सोचना नितांत अव्यवहारिक है। वह व्यक्ति न तो अध्ययन में भली-भांति प्रवृत्त हो पाएगा, न धन कमाने की वासना से छूट पाएगा। उसका व्यक्तित्व एकदम बिखर जाएगा। गीता तो अपने व्यवहारिक सांसारिक जीवन को सफल बनाते हुए मुक्ति पाने की राह दिखाती है। हम अपने अपने वर्ण के अनुकूल कार्य करते हुए कैसे जीवन्मुक्त हो सकते हैं यह अद्‌भुत कला भगवान बताने जा रहे हैं।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।४६।।

जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है, अपने कर्मों द्वारा उस परमेश्वर की पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है।

यह श्लोक बड़ा अच्छा है। भगवान ने बता दिया कि कर्म ही पूजा है। बस अब हमें क्या जरूरत है कि मंदिर जाएं, सत्संग करें, भगवन्नाम का जप करें, समाधि लगाएं। हम तो कर्म करेंगे।

'कर्म ही पूजा है, कर्म ही पूजा है। हम तो कर्म योगी हैं कर्म योगी', कहते हुए रात दिन सफेद काले धंधों में लगे हुए आत्मविमुग्ध लोग हमारे चारों ओर बड़ी संख्या में बिखरे पड़े हैं। यदि हम भी ऐसे विचार रखते हैं तो जरा अपने आप से पूछ कर देखें कि कर्म के द्वारा पूजा तो बेशक हम कर रहे हैं, पर किसकी? अपने पेट की या परमेश्वर की? और यदि अपने कर्मचारियों का शोषण और उपभोक्ताओं से धोखाधड़ी करने के बाद आत्मा कहे कि तुम परमेश्वर की पूजा कर रहे हो तो बेशक लगे रहिए अपने पुण्य कर्म में। यदि नहीं, तो अपने को कर्मयोगी कहना बंद कर दें। यहां भगवान ने स्पष्ट कहा है कि कर्म बदलने की आवश्यकता नहीं, केवल इस भावना को पुष्ट करने की आवश्यकता है कि अपने कर्मों द्वारा मैं उस परमपिता की अर्चना कर रहा हूं जिसने मुझे बनाया है। भगवान जगत के सभी प्रणियों में ईश्वर दर्शन की भावना रखने की बात कह रहे हैं। यदि यह भाव रहे तो वर्ण कोई भी हो, वर्णोचित कर्म कुछ भी रहें, निषिद्ध कर्म अपने आप छूट जाएंगे। वर्णोचित कर्मों में भी केवल वे ही कर्म रह जाएंगे जो कल्याणकारी हैं।

श्री राम कृष्ण परमहंस की सुप्रसिद्ध कथा से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगी। एक व्यक्ति को शराब पीने की बुरी लत थी किन्तु वह श्री राम कृष्ण देव के प्रति भक्ति भाव रखता था। श्री रामकृष्ण ने उससे कहा- तुम जो भी खाते हो मां (मां काली) को अर्पित करके खाओ। अब वह जब भी शराब का प्याला लेकर बैठता उसे गुरु के वचन याद आ जाते। किन्तु

वह सोचता- मां को शराब का भोग मैं कैसे लगा सकता हूं? छि:! न वह शराब का भोग लगा पाता न बिना भोग लगाए स्वयं ही पी पाता। और उसकी लत छूट गई।

हम सचमुच अपना कल्याण चाहते हैं तो भगवान की शिक्षा का पूरी तरह पालन करना होगा। अपनी सुविधानुसार एक बात को पकड़ेंगे और दूसरी से आंख मूंद लेंगे- अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करने की बात समझ लेंगे और कर्मों को ईश्वर अर्पण करने की बात गोल कर जाएंगे तो संसार की जरा, मरण, व्याधि के थपेड़े ही हाथ लगेंगे, परमानन्द के प्राप्ति कैसे होगी? लेकिन साधारणत: होता यही है कि प्रवचनों में जाकर हम वही सुनते हैं जो हम सुनना चाहते हैं। धर्म को जब तक समग्र रूप से जीवन में नहीं उतारेंगे, धर्म धर्म नहीं रहेगा। हम जिस परिस्थिति में हैं, उसमें जो कर्म उचित जान पड़े वह करते वक्त भगवान का स्मरण रखें। उनकी कठपुतली बन कर रहने, उनकी प्रसन्नता के लिए कर्म करने की भावना रखें तो वह भगवान की सबसे बड़ी पूजा है जिससे हमें सहज ही सिद्धि मिल सकती है।

अपने स्वभावानुकूल कर्म करने की बात पर और प्रकाश डालते हुए भगवान कहते हैं:-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४७।।

अच्छी प्रकार से आचरण किए हुए दूसरों के धर्म से अपना धर्म गुणरहित लगे तो भी वही श्रेष्ठ है क्योंकि स्वभाव से नियत किए हुए स्वधर्म स्वरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता।

कभी-कभी हमें लगने लगता है- मैं तो एकदम गया गुजरा हूं। मुझमें तो सात्विक भावना है ही नहीं, मेरा मन परमात्मा में लगता नहीं। इतनी बड़ी गृहस्थी फैल गई है कभी किसी के लिए कुछ, कभी किसी के लिए कुछ करना लगा ही रहता है। मेरा उद्धार तो हो ही नहीं सकता। सब कुछ छोड़कर हिमालय में एक कुटिया बनाकर रहा जाय, तभी संसार का जंजाल छूटेगा,

तभी मुक्ति संभव है। ये साधु लोग कितने आनन्द में लगते हैं, कितने प्रसन्न दिखाई देते हैं, मैं भी ऐसा ही बनूं।

अर्जुन को भी ऐसा ही लगा था। क्षत्रियोचित कार्य करने में तो अपने परम पूज्य पितामह और परम आदरणीय गुरुदेव की हत्या का जघन्य कार्य करना पड़ेगा- यह क्षात्र धार्म तो अति अधम है। इससे तो संन्यासी बन भिक्षाटन पर निर्वाह करना श्रेष्ठ है। मेरा कल्याण तो उसी में है।

भगवान ने न अर्जुन को वैसा करने दिया न वे यह चाहते हैं कि हममें से कोई भी ऐसे विचार रखे। वे कहते हैं- चार विभिन्न प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्ति मेरे ही द्वारा बनाए हुए हैं। वे अपने स्वभाव के अनुसार ही कर्म करें। उसी में उनका कल्याण है। लेकिन इसके साथ एक बड़ा 'किन्तु' लगा हुआ है। अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करें किन्तु यह समझ कर करें कि यह मेरा धर्म है।

गृहस्थ गृहस्थी करे तो यह सोचकर करें कि यह मेरा धर्म है। यह तो साधन है भगवान की प्राप्ति के लिए। हम अपने परिवार पालन को अपना परम लक्ष्य मान लेते हैं अपने माता-पिता, पति-पत्नी, बच्चों को खुश रखने में ही जीवन की चरम उपलब्धि की मान्यता रख उसी के लिए जी तोड़ परिश्रम करते हैं, और जब वही गृहस्थी और वही परिवार हाथ से फिसलता जान पड़ता है तो 'माया मिली न राम' सोच-सोचकर हाथ मलते हैं। गृहस्थी का पालन लक्ष्य नहीं बल्कि धर्म यानी लक्ष्य प्राप्ति का साधन है।

परिवार को खुश रखने के लिए जी तोड़ मेहनत करें अवश्य, लेकिन जरा सी भावना बदल डालें। यह भावना रखें कि गृहस्थी के इन कर्तव्य कर्मों द्वारा मुझे ईश्वर की पूजा करनी है- मैं भगवान से कह सकूं, 'हे भगवान! तुमने संसार रूपी जो कर्म क्षेत्र मुझे दिया उसमें मैंने तुम्हारा कार्य यथाशक्ति अच्छी से अच्छी तरह करने का प्रयत्न किया है।' हम समझते हैं कि मैं गृहस्थ हूं। गृहस्थ होने के नाते भगवान का नाम लेना भी मेरा धर्म है, मुझे भगवान के प्रति भक्ति भी रखनी चाहिए। इस विचार में हम इतने दृढ़ होते हैं कि गृहस्थ होने के नाते रोज एक घंटा पूजा भी कर लेते हैं और समय-समय पर विभिन्न त्योहारों की पूजा अर्चना के लिए भी काफी परिश्रम कर लेते

हैं। शेष अपने परिवार की सुख सुविधा की चिंता और उसके लिए उपार्जन में व्यतीत करते हैं।

बस इतना करें कि 'मैं गृहस्थ हूं इस नाते प्रभु की भक्ति रखनी चाहिए' के स्थान पर 'मैं भक्त या साधक हूं, इस नाते गृहस्थी भी मुझे अच्छी तरह करनी चाहिए' यह भाव दृढ़ता से धारण करें। जीवन चमत्कारिक रूप से बदलेगा। गृहस्थी सुन्दर तरीके से चलने लगेगी और वह केवल परिवार पालन न रह कर साधना बन जाएगी जिससे कल्याणकारी फल भक्ति या आत्म शुद्धि की प्राप्ति होगी।

गृहस्थी का पालन तो एक उदाहरण है। यहां भगवान कहते हैं कि जिसका स्वभाव उसे जो करने को प्रेरित करता है वह उसे ही उचित ढंग से करें तो उसका पाप दूर हो जाएगा। जिसमें सत्वगुण की अधिकता हो वह ब्राह्मणवर्ण के स्वाभाविक कर्मों को अपना धर्म मानकर ग्रहण करें। समाज का पथप्रदर्शक बने। भोग विलास में रुचि न रखे। धन, पद और ऐश्वर्य को धूल के समान समझे।

जो क्षत्रियोचित गुण रखते हैं वे समाज की रक्षा और उत्थान के लिए कार्य करना अपना स्वधर्म माने। शासन करे, अपराधी को दण्ड दे, सदाचारी को पुरस्कार दे, किन्तु याद रखे कि कानून बनाने का काम क्षत्रिय का नहीं ब्राह्मण का है। कानून की रचना ब्राह्मण करता है और उसका पालन क्षत्रिय करवाता है। क्षत्रिय यदि मनमाने ढंग से कार्य करने लगे, कानून का उल्लंघन करने लगे या स्वयं भ्रष्टाचारी हो जाए तो यह उसके लिए धर्म से च्युत होना है।

इसी प्रकार धन के भंडार की वृद्धि करना वैश्य का काम है। 'कृषि गौरक्ष्य वाणिज्यं- इन शब्दों का व्यवहार किया था भगवान ने वैश्य के धर्म के लिए। इसके अन्तर्गत अन्न धन, पशु धन और अर्थ धन आदि सभी प्रकार का धन आ गया। वैश्य यह समझ ले कि उसका कर्तव्य राष्ट्र की समृद्धि के हेतु अपनी बुद्धि कौशल का उपयोग करना है। शासन पर उसका हस्तक्षेप न हो। उसका कार्य शासक को कर देना और अपने कर्मचारी को भरपूर मेहनताना देना है। यदि वह ऐसा कर पाए तो धनोपार्जन करता हुआ भी परम पद की प्राप्ति कर सकता है।

इसी प्रकार शूद्र की भी बात है। शूद्र संख्या में अधिक हैं। इनके पास ही शारीरिक बल है जिसकी समाज को भरपूर आवश्यकता है। शूद्र को सद्विचार ब्राह्मण से मिले, उसके हितों की रक्षा क्षत्रिय करें, उसके काम के बदले समुचित वेतन वैश्य दे और वह पूरी निष्ठा के साथ दिए गए कार्य को करें।

इस प्रकार इन चारों वर्णों के लोग ईमानदारी और परस्पर बन्धुत्व के साथ कार्य करें तो समाज में सुव्यवस्था बनी रहेगी और किसी को भी असंतोष नहीं होगा। अपने स्वभाव और क्षमता को अनदेखा कर कोई व्यक्ति जब दूसरे के जैसा बनने का प्रयत्न करता है तो न उसे सफलता मिलती है न संतोष। समाज में ऐसे लोग बढ़ेंगे तो समाज की व्यवस्था भी चरमरा जाएगी।

अपने स्वभाव अर्थात् वर्ण के अनुसार कर्म करना ही किसी भी व्यक्ति के लिए सहज होता है। इस सहज कर्म को न त्यागने की बात पर और बल देने के लिए भगवान कहते हैं:-

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।

हे कौन्तेय! दोषयुक्त होने पर भी सहज कर्म नहीं त्यागना चाहिए क्योंकि धुएं से अग्नि की भांति सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत्त हैं।

स्वधर्म में लगे रहने के लिए प्रेरित करने के लिए छियालीसवें श्लोक में भगवान ने तर्क दिया था कि स्वधर्म से सिद्धि मिल सकती है, फिर सैंतालीसवें श्लोक में तर्क दिया कि सहज कर्म से मनुष्य पाप को नहीं प्राप्त होता और अब इस श्लोक में तर्क दे रहे हैं कि सभी कर्म किसी न किसी दोष से युक्त होते ही हैं अतः अपने सहज कर्म में ही मन को एकाग्र करना चाहिए।

जैसे अग्नि जलाते हैं तो पहले पहल तो धुआं ही धुआं दिखाई देता है। अग्नि का तेज धुएं में ढका रहता है। धीरे-धीरे उसका प्रखर रूप दिखाई देने लगता है, लेकिन बिना धुएं के कोई अग्नि प्रज्जवलित नहीं होती।

ठीक इसी प्रकार कर्म कोई भी हो, वह दोष से लिप्त होगा ही। यहां कर्म के लिए आरम्भ शब्द का प्रयोग किया है जो कर्म के प्रति कर्त्ता भाव को प्रकट करता है। यानी 'मैंने यह कर्म आरम्भ किया है' यह भावना जहां हो वहीं दोष अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं किन्तु जो कर्म हम सहज भाव से करते हैं उनके लिए 'मैंने किया' का भाव आता ही नहीं। जैसे एक बालिका अपनी रोज की पढ़ाई सहज भाव से करती है उसे कोई गर्व नहीं होता लेकिन पहली बार मां के साथ एक लम्बी जीभनुमा रोटी बेलती है तो वह गर्व से भर उठती है और पापा के आने पर दौड़ कर बताती है- पापा आज आपके लिए रोटी मैंने बनाई है।

अपने स्वभाव, क्षमता और परिस्थिति के द्वारा मिले हुए कार्य ही सहज कर्म है और आजकल सब अपने सहज कर्म से असंतुष्ट रहते हैं- जॉब सैटिस्फैक्शन न होने का रोना सबको है। सबको दूसरे का काम, दूसरे का व्यवसाय अच्छा लगता है। नौकरी करने वाला सोचता है कि व्यापार में अच्छा है, अपनी मर्जी के मालिक हैं, जब जी चाहा आफिस गए। व्यापारी सोचता है कि नौकरी करने वालों को आराम है, दस से पांच बजे तक काम किया और निश्चिंत। हर कार्य में कुछ अच्छा है कुछ बुरा। हमें तो यह देखना चाहिए कि हमारा अपना स्वभाव नौकरी के उपयुक्त नजर आता है कि व्यापारी के। आराम और फायदे की बात सोच-सोच कर परेशान न हो।

इस श्लोक में उनके लिए भी संदेश है जिन्हें अपने कर्म दोषयुक्त लगते हों। जैसे जज सोचे कि मैं कितने लोगों की मृत्यु या सजा का कारण बनता हूं, नगरपालिका की ओर से कीटनाशक औषधि का छिड़काव करने वाला सोचे कि उसकी नौकरी बहुत बुरी है, रोज कितने प्राणियों की हिंसा होती है। इन सबको भगवान कह रहे हैं कि ऐसा कोई भी कर्म नहीं है जो दोषयुक्त न हो। हम दोषमुक्त तभी होंगे जब ईश्वरार्पण भाव से कर्म करेंगे। कर्म को त्यागने की न सोचें। कर्ता भाव को त्याग कर कर्म करते जाएं। ईश्वरार्पण भाव से कर्म करना कर्मयोग है और कर्ताभाव को त्याग कर कर्म करना संन्यास है।

संन्यास का तत्व समझने के क्रम में ही भगवान ने बहुत सी बातें बताई, अब वे मूल बात पर आते हैं:-

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्यासेनाधिगच्छति ।।४९।।

सर्वत्र आसक्ति रहित बुद्धि वाला, स्पृहा रहित और आत्मजयी पुरुष संन्यास के द्वारा उस परम नैष्कर्म्य को प्राप्त होता है।

अर्जुन चाहता था कि क्षत्रियोचित कर्त्तव्य कर्म को त्याग कर संन्यासी बन जाऊं। संन्यास का अर्थ वह समझता था- सांसारिक कर्मों को त्याग कर भिक्षाटन पर निर्वाह करना। भगवान बार-बार उसी के विचार पर चोट करते हैं। बार बार कहते हैं- अर्जुन कर्म त्याग की बात मत सोचो। कर्म तो तुम्हें करना ही होगा, करते ही रहना होगा। अकर्मण्यता की बात भूल जाओ, नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त करो, यही संन्यास है।

नैष्कर्म्य सिद्धि का अर्थ है कर्मों से मुक्ति पाना। यह मुक्ति कर्म छोड़कर नहीं पाई जा सकती है। इस अवस्था को पाने की साधना ही संन्यास है और इसके तीन उपाय भगवान बता रहे हैं। सर्वत्र असक्त बुद्धि रखना, आत्मजयी होना और स्पृहा अर्थात् कामना से छूटना।

निरासक्ति और निष्कामता का पाठ ही गीता की मूल शिक्षा है। जो इन्हें साध लेता है और जो अपने आप को जीत पाता है वही संसार को जीत सकता है। कर्मयोगी, निष्काम पुरुष, स्थितप्रज्ञ, गुणातीत, भक्त, ज्ञानी, त्यागी, संन्यासी-किसी भी शब्द का व्यवहार कर लें बात घूम-फिर कर कुछेक बिन्दुओं पर ही टिकती है। हरेक का वर्णन करते समय भगवान स्पष्ट कर देते हैं कि उनकी दृष्टि में आदर्श पुरुष वही है जो कर्ता भोक्ता भाव को त्यागकर निरंतर कर्म करता जाए। श्रीकृष्ण सचमुच युगपुरुष थे। उन्होंने सारी की सारी रुढ़िवादी मान्यताओं को जड़ से हिला दिया है और एक गौरवशाली आदर्श प्रस्तुत किया है। उन्होंने इस छवि का आभास मात्र देकर नहीं छोड़ दिया, इससे सम्बन्धित हर शब्द की सुस्पष्ट परिभाषा दी है और इस आदर्श पद की प्राप्ति के लिए समस्त उपाय भी साफ-साफ बताए हैं- इन्हें जीवन में उतारना हमारा काम है।

भगवान श्रीकृष्ण द्वारा वर्णित आदर्श पुरुष ब्रह्म पद की प्राप्ति कर स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो सकता है। कैसे- यह भगवान अगले कुछ श्लोकों में बताएंगे। इसकी भूमिका बनाते हुए भगवान कहते हैं-

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।।५०।।

हे कौन्तेय! जो ज्ञानयोग की परानिष्ठा है उस सिद्धि को पाकर जिस प्रकार मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है उसे तुम मुझसे संक्षेप में सुनो।

नैष्कर्म्य सिद्धि यानी कर्मों से मुक्ति- कर्म करते हुए भी कर्ताभाव के न होने को ही भगवान ज्ञानयोग की पराकाष्ठा बताते हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों एक ही स्थिति तक ले जा सकते है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग आदि तो साधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य एक सीमा तक अपने अन्त:करण को निर्मल कर सकता है, राग-द्वेष का त्याग कर कर्मबन्धनों से मुक्त हो सकता है। ऐसा जीवन्मुक्त पुरुष ही ध्यान के द्वारा समाधिस्थ हो ब्रह्म से एकाकार हो सकता है। यह अंतिम अवस्था निर्विकल्प समाधि कहलाती है जिसके लिए शास्त्रों में कहा गया है कि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' जब तक इस अवस्था की प्राप्ति नहीं होती, अहंकार का झीना आवरण रहता ही है। इस ब्राह्मी स्थिति को पाने के बाद जीव शिव के तद्रूप हो जाता है, आत्मा-परमात्मा में कोई अन्दर नहीं रह जाता और सम्पूर्ण जगत आत्ममय दिखलाई देने लगता है। साधक का प्रयत्न तो केवल नैष्कर्म्य सिद्धि की प्राप्ति तक ही है, इसके पश्चात वह जब ध्यानमग्न होता है तो निर्विकल्प समाधि की अवस्था अपने आप घटित होती है, अत: हमारे लिए तो आवश्यक यही है कि हम नैष्कर्म्य सिद्धि यानी ज्ञानयोग की परम अवस्था को जान कर उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें। जैसे कि पहले बताया जा चुका है कि यह परम अवस्था ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग में एक ही है। अब यहां उपसंहार के लिए ज्ञान योगी के लक्षण और ब्रह्म प्राप्ति की बात संक्षेप में ही बताएंगे।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।

शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।५२।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।

विशुद्ध बुद्धि से युक्त, आत्म संयम में दृढ़, शब्द आदि विषयों को त्याग करने वाला, राग द्वेष को छोड़ देने वाला, एकान्त का सेवन करने वाला, हल्का भोजन लेने वाला, मन कर्म वचन पर संयम रखने वाला, सदा वैराग्य से आश्रित रहने वाला, अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, और संचय का त्याग करने वाला, शान्त निरहंकारी मनुष्य ब्रह्म में अभिन्न भाव से स्थित होने का पात्र है।

भगवान ने ज्ञानी के लक्षण गिनने के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया है उनका जिक्र अनेकों बार हो चुका है। ब्रह्म से अभिन्नता प्राप्त करने का मुख्य द्वार है ध्यान और इस द्वार में प्रवेश पाने के लिए उपरोक्त गुणों से युक्त होना आवश्यक है।

साधारण मनुष्य जब ध्यान करने बैठता है तो चाहता है कि संसार की बातों को भूल कर मन बुद्धि को ब्रह्म में एकाग्र करे, किन्तु वह देखता है कि संसार की बातें छूटना तो दूर, ऐसी-ऐसी न जाने मन के किस-किस कोने में दबी बातें स्मृति पटल कर उभर आती है कि स्वयं को वितृष्णा होने लगती है। इसका कारण यही है कि हम पहले ध्यान के योग्य पात्रता अपने में लाने की बात ही नहीं सोचते। जब तक राग द्वेष, भोग, विलास, अहंकार, अभिमान, काम, क्रोध आदि का त्याग नहीं होगा, जब तक स्वादिष्ट भोजन ठूंस-ठूंस कर खाने की प्रवृत्ति नहीं छूटेगी, जब तक ममता की डोरें नहीं कटेंगी, जब तक संसार के प्रति वैराग्य नहीं आएगा तब तक एकान्त में बैठकर मन के साथ जोर जबर्दस्ती करने से कुछ हासिल नहीं होने वाला।

फिर भी साधकों के लिए नित्य ध्यान लगाने का प्रयत्न करना

लाभदायक है। इसमें आत्मनिरीक्षण होता है, हम अपने विचारों की निकृष्टता को जान पाते हैं और फिर जब उनके उभार को रोक पाने में समर्थ नहीं होते तब अपनी कमजोरी पता चलती है, अहंकार और अभिमान दूर होता है। बार-बार मन विषयों में दौड़े, बार-बार हम उसे नाम जप में स्थिर करने का प्रयत्न करें- यह मन की वर्जिश है।

इस प्रकार ध्यानाभ्यास से अपनी स्थिति को पहचान कर दैनिक व्यवहार को इस प्रकार बदलें कि धन, संपत्ति, परिवार, यश आदि के लोभ का स्थान वैराग्य लेता जाए तो धीरे-धीरे ध्यानाभ्यास में सफलता मिलती जाएगी, कुछ शांति का अनुभव होगा।

यहां भगवान कहते हैं कि उपरोक्त गुणों वाला व्यक्ति ब्रह्म से अभिन्न होने का पात्र हो जाता है। वह पात्र होता है, अभिन्न हो नहीं जाता अभी उसे और चरणों से गुजरना है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।५४।।

वह ब्रह्मभूत योगी प्रसन्न मन वाला होता है, वह न किसी के लिए शोक करता है, न किसी की आकांक्षा करता है, उसके लिए सभी प्राणी समान है, वह मेरी पराभक्ति को प्राप्त हो जाता है।

जिसे वैराग्य हो गया है उसे किसी की कामना हो ही नहीं सकती, जिसके मन से राग द्वेष पूरी तरह निकल गए हों उसके लिए सभी प्राणी एक समान होंगे ही। उसे शोक भी नहीं होगा क्योंकि शोक का कारण भी प्रिय वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति का अभाव ही है। ऐसा व्यक्ति हर क्षेत्र में प्रसन्न रहेगा यह बात सहज ही समझ में आती है।

यहां ध्यान देने की बात यह है कि भगवान ने कहा है ज्ञान योगी मेरी परम भक्ति को प्राप्त हो जाता है। कर्म, ज्ञान और भक्ति ये तीन साधनाएं हम मुख्य रूप से जानते हैं। तीनों का गीता में विशद् विवेचन हुआ है। लेकिन भगवान हर स्थान पर दो का ही नाम लेते रहे। तीसरे अध्याय में ही उन्होंने

कहा था:- **लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम्।।** अर्थात् इस लोक में दो निष्ठाएं बताई गई हैं- ज्ञानियों के लिए ज्ञान योग और कर्मशील व्यक्तियों के लिए कर्मयोग। भाक्तियोग का नाम उन्होंने नहीं लिया। इस प्रकार दो प्रकार के योग का संकेत और भी कई स्थान पर दिया है। अब यहां बता रहे हैं कि भक्ति तो इन दोनों का फल है। तात्पर्य यह है कि भक्तियोग ज्ञान और कर्म से भिन्न कोई साधन नहीं, यह तो ज्ञान और कर्म का अमृत फल है। ज्ञान और कर्म की परिसमाप्ति ही भक्ति में होती है। जब तक ज्ञान या कर्म भक्ति से युक्त नहीं होता तब तक परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यह बहुत महत्वपूर्ण बात है। जो यह सोचते हैं कि गीता में सबसे अधिक महत्व कर्म को दिया गया है या यह सोचते हैं कि ब्रह्म की प्राप्ति तो ज्ञान के द्वारा ही हो सकती है और किसी विधि से नहीं, वह समझ लें कि भगवान ने भक्ति को किस प्रकार इनसे ऊंचा स्थान दिया है।

यह बात अपने सांसारिक व्यवहार का चिन्तन करने से भी समझ में आ जाएगी। ब्रह्म की प्राप्ति का अर्थ होता है ब्रह्म से अभिन्नता का अनुभव होना। हम ब्रह्म के साथ ऐसा तादात्म्य कर लें कि कोई अन्तर ही नहीं रह जाए। हम सभी का अनुभव है कि सिनेमा के दृष्यों में जब हम तन्मय हो जाते हैं तो नायक-नायिका से इतना तादात्म्य हो जाता है कि उनके दुख मे हमारी आंखों से आंसू बहने लगते हैं। यानी तादात्म्यता तन्मयता से आती है। और तन्मयता का सबसे अच्छा साधन प्रेम है। कोरे ज्ञान से तन्मयता आनी बहुत कठिन है। प्रेम बहुत ही सहजता के साथ तन्मयता ला देता है। उदाहरण स्वरूप हम जानते हैं कि हमारे समाज के जो पिछड़े लोग हैं वे हमारे ही भाई बन्धु हैं, वे यदि कष्ट में हैं तो हमारा कर्तव्य है कि हम उसके लिए कुछ करें। हमारा यह ज्ञान हमें उनके दुख को अपना दुख समझने के लिए प्रेरित कर सकता है, किन्तु एक सीमा तक ही। लेकिन जिनके प्रति हमारा प्रेम है उनके दुख में तो दुखी हुए बिना हम रह ही नहीं पाते। ज्ञान और तादात्म्यता के बीच प्रेम आएगा ही। जैसे किसी को पता चले कि अमुक व्यक्ति मेरा बरसों पहले बिछड़ा हुआ भाई है तो ज्ञान के साथ ही उनके मन में पहले प्रेम उमड़ेगा और तब ऐसी स्थिति आएगी कि वह उससे लिपटे बिना नहीं

रह सकेगा। वह प्रेम ही दोनों को एक कर देगा।

उसी प्रकार परमेश्वर की सर्वव्यापकता का ज्ञान, उसकी सर्वज्ञता का ज्ञान, उसकी करुणा का ज्ञान हमारे हृदय में उसके प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव जगाएगा ही। श्रद्धा और प्रेम का सम्मिलित स्वरूप है भक्ति। यह भक्ति हमें उसकी ओर इस प्रकार आकर्षित करेगी कि हम खिंचे चले जाएंगे और एक दिन ऐसी तन्मयता होगी कि हमारे बीच दूरी पूरी तरह मिट जाएगी। अहंकार का सूक्ष्म पर्दा भी नहीं रह जाएगा। यह अवस्था ब्रह्म से पूर्ण तादात्म्यता की है। इसी अंतिम अवस्था का वर्णन भगवान ने अगले श्लोक में किया है–

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।५५।।

उस भक्ति के द्वारा मुझे- मैं जो हूं जितना हूं, उसे तत्व से जान लेता है तथा मुझे तत्व से जान लेने के बाद वह मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

अन्धभक्ति हमें कहीं नहीं पहुंचा सकती। भक्ति तो ज्ञान द्वारा पुष्ट हो, ज्ञान के अमृत फल के रूप में प्रकट हो तभी वह हमें परमपद दिला सकती है। 'अमुक व्यक्ति मेरा है' यह ज्ञान हमारे मन में उसके प्रति प्रेम उत्पन्न करता है और तब हम उसके विषय में पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करते हैं। वह कैसा है, उसे क्या पसन्द है, उसे कैसे प्रसन्न किया जा सकता है आदि अनेकों बातें हैं- हम सब बातें जान लेना चाहते हैं। अपने प्रिय के विषय में बातें करते-करते हमारी जबान नहीं थकती।

'प्रभु मेरे हैं, मैं प्रभु का हूं' यह ज्ञान इतने तक ही सीमित नहीं रह सकता। अपने प्रभु के विषय में सब कुछ पूरी-पूरी तरह जान लेने की उत्कंठा जागती है और उनके तत्व का ज्ञान जितना अधिक होता है उनकी लीला का चिन्तन जितना अधिक होता है, उतनी ही उनमें तन्मयता बढ़ती है। श्री कृष्ण परब्रह्म स्वरूप है यह बात मुख से तो सभी बोल लेंगे लेकिन इस खोखले ज्ञान से उसके जीवन में परिपूर्णता भला आ सकती है? किन्तु जिसने अनुभव

द्वारा जाना है कि कन्हैया मेरा है, कन्हैया उन सबका है जो जीवन के सुख-दुख के मंथन द्वारा निकला वासना रूपी माखन प्रेम के साथ उनके लिए रखता है- 'प्रभु आओ मेरे माखन को चुरा ले जाओ।' जिसने यह जाना है कि कन्हैया अपने भक्तों के पराधीन है, वह उनकी उंगलियों के इशारे पर नाचता रहता है और जिसने यह जान लिया कि कन्हैया उसके जीवन की पल-पल की घटनाओं का द्रष्टा ही नहीं नियामक भी है और जिसने यह जान लिया कि जीवन में दुख रूप जो परिस्थितियां आती है वे उसके प्यारे कन्हैया की अत्यन्त प्रेम से बनाई गई योजना है ताकि उसका उद्धार हो सके- उसके जीवन में रिक्तता भला रह सकती है?'

वह तो प्रभु की लीला के एक-एक रहस्य को जानना चाहेगा। मेरे प्रभु ने गोपियों के साथ रास लीला की- क्या महत्ता है इस लीला की? गोपियों के वस्त्र हरण कर मेरे प्रभु क्या संदेश देना चाहते थे? प्रभु ने अर्जुन को क्यों अपना सखा बनाया, उसे ही गीता का उपदेश क्यों दिया, क्यों रणभूमि में बार-बार अपनी प्रतिज्ञा तोड़ी? छल से द्रोणाचार्य को मरवाकर प्रभु हमें क्या सीख देना चाहते थे? उसकी जिज्ञासाओं का कोई अन्त नहीं होगा। जिसे श्रीकृष्ण से कुछ लेना देना नहीं उसके लिए ये बातें तर्क का विषय हो सकती है, लेकिन भक्त के लिए तो ये जिज्ञासा का विषय होगी और जितना उसे इन रहस्यों का ज्ञान होगा उतनी ही उसकी भक्ति प्रगाढ़ होती जाएगी। उतनी ही उसकी तन्मयता बढ़ती जाएगी। श्री कृष्ण के स्वरूप की माधुरी ने तो शुकदेव जैसे विरक्त को भी मोहित कर लिया था। उनकी रूप माधुरी का पान कर भला भक्तों की प्यास बुझती है? वे तो कृष्ण के भाव में ही मग्न रहना चाहते हैं। अपना आपा तो वे सहज ही भुला बैठते हैं। इसके लिए उन्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ता। भाव समाधि के द्वारा वे प्रभु के राज्य में प्रविष्ट हो जाते हैं।

लेकिन भक्ति रस के प्रवाह के मध्य भी भगवान व्यवहारिकता को अनदेखा करने को तैयार नही। वे कहते हैं:-

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।

मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।५६।।

मेरे परायण हुआ मनुष्य सम्पूर्ण कर्मों को सदा करता हुआ मेरी कृपा से सनातन अविनाशी परम पद को प्राप्त हो जाता है।

धन्य है श्री कृष्ण प्रभु। भक्ति, कर्म और ज्ञान की गंगा यमुना और सरस्वती के पावन प्रवाह से अलग अलग सिक्त करने के बाद अब हमें ले आए हैं उनके पावन संगम पर ताकि हम ऐसा गोता लगाए कि वापस अपनी जगह पर आ ही नहीं पाएं- डूबना ही जहां उबरना हो जाता है उस स्थिति में लाना चाहते हैं हमें।

पहले तो उन्होंने बताया कि ज्ञान होने पर परम फल के रूप में भक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार ज्ञान को भक्ति से जोड़ने के बाद अब इस श्लोक में भक्ति से कर्म को जोड़ रहे हैं।

भगवान की दृष्टि में भक्ति का अर्थ सब कुछ उन्हें सौंपने के भाव के साथ अकर्मण्य हो जाना नहीं। वे तो चाहते हैं कि भक्त केवल अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी कर्म करे। वे उसे प्यार नहीं करते जो भला है, वे उसे प्यार करते हैं जो भलाई करता भी है। भला बनना पर्याप्त नहीं, भलाई करना भी आवश्यक है। संसार से मुख मोड़ कर उनके चरण पकड़ लेने में वे महानता नहीं मानते। वे तो यह चाहते हैं कि उनका भक्त मन से उनमें लगा रहे, तन से संसार में। उन्होंने कहा था-अर्जुन, मुझे कुछ भी प्राप्य नहीं है फिर भी मैं प्रतिक्षण कर्म में लगा रहता हूं, क्योंकि जैसा मैं करूंगा वैसा ही लोग सीखेंगे।

अपने को प्रभु की कठपुतली मान उनकी उंगलियों के इशारे पर नाच नाच कर संसार में सुख शांति और आनन्द की वृद्धि के लिए प्रयास करते रहें, कहीं अपना अहंकार न आने दें। कभी अपने यश की वृद्धि की कामना न रखे तो प्रभु का आश्वासन है- मेरी कृपा से तुम्हें परम पद की प्राप्ति होगी। प्रभु अपने भक्त के लिए शस्त्र उठाने की प्रतिज्ञा तोड़ सकते हैं, लेकिन भक्त के उद्धार के लिए की गई इस प्रतिज्ञा को नहीं तोड़ सकते।

हम ज्ञान, भक्ति और कर्म योग के विवाद में न उलझें। यह न सोचें

कि मेरे लिए कौन सा रास्ता ठीक रहेगा। हम कभी तो बुद्धि प्रधान और कभी कर्म प्रधान हो जाते हैं इसलिए तीनों साधनों को ही अपनी क्षमतानुसार जीवन में उतारने का प्रयत्न करते रहें। जीवन की पूर्णता तभी संभव है।

इस प्रकार सब समझाने के बाद अब अर्जुन को स्पष्ट निर्देश देते हुए भगवान कहते हैं-

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।५७।।

सब कर्मों को मन से मुझे अर्पण कर के समबुद्धि रूप योग का अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।

भगवान ने उपदेश के आरम्भ में ही कहा था- अर्जुन! तू सुख-दुख, लाभ अलाभ, जय-पराजय में समता धारण कर युद्ध कर, तुझे कोई पाप नहीं लगेगा। इसी समता को उन्होंने बुद्धियोग का नाम दिया था। बात अर्जुन को स्पष्ट समझ में आई नहीं अतः भगवान को उसे पूरी तरह संतुष्ट करने के लिए इतना लम्बा चौड़ा व्याख्यान देना पड़ा। अब वे अपनी बात पर आ जाते हैं- अर्जुन तेरे लिए तो यही रास्ता है, तू बुद्धियोग का आश्रय ले। और यह समता रूपी बुद्धियोग तुझे तब प्राप्त होगा जब तू अपने मन बुद्धि को मुझमें ही लगाते हुए सारे कर्मों को मुझे ही अर्पण करेगा।

अपने अनुभवों को ही समझ लें। कोई हमारे विरुद्ध जरा सा कुछ कहा देता है तो हम तिलमिला जाते हैं, कभी चार-पांच रुपये की हानि हो जाती है तो हम अपना आपा खो बैठते हैं, दो-दो रुपये के लिए कुली से झगड़ कर अपना अच्छा भला मूड खराब कर लेते हैं; लेकिन जब हमारा ध्यान किसी दूसरी महत्वपूर्ण बात में लगा हो तो इन छोटे मोटे हानि-लाभ, मान-अपमान को हम आसानी से अनदेखा कर पाते हैं।

जिसने यह बात बुद्धि में बैठा ली कि मेरे लिए तो कन्हैया लाल से बढ़कर जीवन में महत्व की कोई वस्तु व्यक्ति है ही नहीं, उसे हर क्षण इस बात की चिन्ता रहेगी कि मेरा मन यदि तुच्छ बातों में उलझा रहेगा तो

उसका चिन्तन कैसे होगा, वह समझ जाएगा कि सांसारिक राग द्वेष में जहां वह पड़ता है वहीं उसके प्रभु के साथ उसकी स्नेह डोर चटकने लगती है। उसका चित्त हरिनाम में लगना बंद हो जाता हैं। उसकी हृदय तंत्री से मधुर झंकार निकलनी बंद हो जाती है। और जिसे श्याम सुन्दर के अलौकिक प्रेम का स्वाद मिल चुका है वह भला उनका वियोग सहन कर पाएगा? इस प्रकार सांसारिक राग द्वेष छोड़ना सम्भव तभी हो पाएगा जब हम अपने मन को आनन्द के उस अनन्त स्रोत से जोड़ेंगे। रबड़ी का स्वाद चखने के बाद गुड़ का आकर्षण छोड़ना क्या मुश्किल! लेकिन रबड़ी का स्वाद यानी मनोराज्य में श्री कृष्ण का पदार्पण भी सहज नहीं। इसके लिए संसार में निष्काम भाव से कर्म करते हुए यह समझना होगा कि मेरी कर्म शक्ति, मेरी क्षमता सब मेरे प्रभु की दी हुई है, फिर मुझे यह अधिकार कहां कि किसी वस्तु, किसी गुण, किसी कर्म फल पर अपना स्वत्व मानूं। जब कर्म वे ही करा रहे हैं तो फल भी उनका ही हो।

इस प्रकार ज्ञान भक्ति और कर्म परस्पर गुंथ जाते हैं तब साधना भी आनन्ददायी हो जाती है, साधक को उसमें विशेष रस मिलने लगता है, उसी में उसे 'थ्रिल' भी लगने लगता है। रस और थ्रिल के लिए उसे इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं होती।

भगवान के उपदेश को मानने से होने वाले लाभ की बात तो समझ में आ गई, पर यदि न मानें तो? भगवान बताते हैं:-

मच्चित: सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ।।५८।।

मुझमें चित्त वाला होकर तू मेरी कृपा से समस्त संकटों से तर जाएगा और यदि अहंकार के कारण मेरे वचनों को न सुनेगा तो नष्ट हो जाएगा।

यह श्लोक पढ़ते समय एक बार तो ऐसा लगता है कि श्रीकृष्ण एक निरंकुश, स्वेच्छाचारी शासक की भांति संसार का पालन कर रहे हैं। उनकी बात सुनेंगे तो वे कृपा कर देंगे और सारे संकट दूर हो जायेंगे, और नहीं मानेंगे

तो आफत ही आफत है।

ऐसा व्यवहार तो आजकल के भ्रष्ट राजनेता नौकरशाहों के साथ करते हैं। उनके भ्रष्ट आचरण में सहयोग नहीं कर देने पर किसी निर्जन स्थान में तबादला करा देते हैं या उनके विरुद्ध झूठे आरोप गढ़ कर उन्हें जाल में फंसा कर अन्ततः निलम्बित करा देते हैं। हमारे प्रभु ऐसे नहीं।

प्रभु ने अपनी कृपा से कल्याण होने की बात दो श्लोक पहले भी कही थी। इसका मर्म समझ लें। यदि भगवान कृपा करने में पक्षपाती हों तो उन्हें करुणावरुणालय कौन कहेगा? बात यह है कि भगवान की कृपा तो बरसती ही रहती है। सब समय, सब पर। किन्तु जैसे एक घड़ा उलटा रख दिया जाय तो मूसलाधार वर्षा में भी वह खाली ही रहेगा वैसे ही हम भी कोरे के कोरे ही रह जाते हैं क्योंकि हमने उस दिशा में मुंह कर ही नहीं रखा। हमने तो संसार की ओर सारी इन्द्रियां मन, बुद्धि लगा रखे हैं, सारे सुख, सारे लाभ संसार से ही पाना चाहते हैं, धनपतियों और कुर्सीपतियों की कृपा दृष्टि पाने के लिए ही रात दिन जोड़ तोड़ करते रहते हैं। प्रभु की कृपा का अनुभव कैसे होगा? उस घड़े के दिल का हाल पूछने पर कहेगा- पानी की बूंदे इतनी मोटी-मोटी थी कि उनकी चपेट से तो मैं टूट ही जाता। हमें भी कृपा का अनुभव तो होता नहीं, चोटों से घायल हो कर तड़पते रहते हैं।

प्रभु की कृपा तो होती ही है पर उसका लाभ यानि हमारे कष्टों, समस्याओं का निवारण तभी होगा जब हम उसकी कृपा का अनुभव करना सीखेंगे। सुख में तो उसकी कृपा समझना आसान है पर दुख की परिस्थिति में भी उसकी कृपा को पहचानने के लिए विशेष दृष्टि चाहिए और वह विशेष दृष्टि आती है अहंता और ममता के त्याग से। 'मैं हूं' इस विचार के साथ तो हम रात दिन इस संसार में लगे ही हैं और सारे शास्त्र कहते हैं 'मैं' को त्यागो तब कल्याण होगा। हम हैं कि जानते समझते भी 'मैं' को त्याग नहीं पा रहे। एक बड़ा ही सरल उपाय है। 'मैं' और 'हूं' के बीच हम जिस शब्द का प्रयोग करते हैं उसे हटाकर 'प्रभु का' शब्द लगा दीजिए। 'मैं मिस्टर क हूं' के स्थान पर यह कहकर, यह समझकर देखिए कि 'मैं कन्हैया का हूं' और इतने में काम बनने में कुछ कमी दिखाई देता हो तो यह और जोड़ दें- कन्हैया मेरे हैं। बस सारी अहंता, सारी ममता लुप्त होना आरम्भ हो जाएगी।

महाभारत के संग्राम के समय अर्जुन भूल गया था कि उसका तो एक ही नाता है- वह केशव का, केशव उसके। उसे लगा- वह पितामह का पितामह उसके, वह गुरु द्रोण का द्रोणाचार्य उसके, वह कौरव कुल का कौरव कुल उसका। बस उसके विनाश की प्रक्रिया त्वरित गति से आरम्भ हो गई थी। क्षण भर में कुछ का कुछ हो रहा था। विनाश से उसका बचाव तो मात्र इसलिए हुआ कि वास्तव में तो उसने यह बात हृदय में धारण कर रखी थी कि श्री कृष्ण ही मेरे परम आत्मीय है। अहंता ममता का उपरोक्त विक्षेप तो अचानक आ गया था इसीलिए वे कहते हैं कि तुम यदि इस अहंकार का लबादा ओढ़े ही रहोगे तो तुम्हारा विनाश निश्चित है।

हम ज्ञान कितना भी सुन पढ़ लें, यदि अहंकार के त्याग की साधना न की, प्रभु भक्ति को धारण नहीं किया तो गीता के अठारहों अध्याय के उपदेश हमें इस भव बन्धन से मुक्त करने में जरा भी सहायक नहीं होंगे।

अर्जुन को संकेत मात्र से बात पूरी तरह समझ नहीं आई अत: भगवान उसके स्तर पर उतर कर उसे समझाते हैं:-

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।५९।।
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।६०।।

अहंकार का आश्रय लेकर तू ऐसा मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। यह निश्चय झूठा है, क्योंकि तेरी (क्षात्र) प्रकृति तुझे युद्ध में लगा देगी।

हे कौन्तेय! अपने स्वभाव जन्य कर्म से बंधा हुआ तू मोह के कारण जो नहीं करना चाहता उसको तू (प्रकृति के) परवश होकर करेगा।

कुशल गुरु वही है जो शिष्य को अपनी बात समझाने के लिए उसके स्तर पर उतर कर उसे बांह पकड़ उठा सके। परम ज्ञान के उपदेष्टा भगवान श्रीकृष्ण उपनिषदों के अमृत का पान अर्जुन को करा कर उसका उद्धार करने के प्रति ऐसे कटिबद्ध हैं कि आवश्यकता पड़ने पर बिल्कुल हमारी आपकी

भाषा बोल सकते हैं, यह इन दोनों श्लोकों में स्पष्ट है।

दूसरे अध्याय में भी भगवान ने तत्वज्ञान का उपदेश आरम्भ किया और अर्जुन के चेहरे पर कोई भाव नहीं दिखाई दिया तो एक एक सोपान नीचे उतरते उतरते वे बिलकुल सामान्य जनों की भाषा कहने लगे कि अर्जुन यदि तुम युद्ध नहीं करोगे तो लोग कहेंगे कि तुम डर कर भाग गए। ऐसा अपमान तो मृत्यु से भी दु:खदायी होगा। देखो, तुम जीत गए तो पृथ्वी का राज भोगोगे और मारे गए तो भी क्षात्र धर्म के अनुसार तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी। इस प्रकार की बातें कहते कहते उससे कहा- देखो मैं तुम्हें एक अद्‌भुत उपाय बताता हूं जिससे तुम सबको मार भी दोगे तो मारने का पाप तुम्हें लगेगा नहीं।

इस प्रकार बड़ी चतुराई से उसकी उत्सुकता जगा कर उसे समत्व रूपी कर्मयोग, फिर भक्ति योग, फिर ज्ञान योग का लम्बा चौड़ा व्याख्यान दे डाला और तब भी अर्जुन ने वैसी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की जैसी वह चाहते थे। वह गाण्डीव हाथ में लेकर सिंहनाद करते हुए उठा नहीं तो कृपालु प्रभु फिर वार्तालाप के निम्नतम स्तर पर उतर आए, क्योंकि उन्हें तो वह प्रतिज्ञा अभी ही पूरी करके दिखानी है कि जो अनन्यता के साथ अपने आप को उन्हें सौंप दे उसका उद्धार करना उनकी जिम्मेदारी है।

भगवान कहते हैं कि अपने को पाण्डु पुत्र, कुरुवंशी, भीष्म का पौत्र या द्रोण का शिष्य मान कर तुम मोहित, भ्रमित हो गए हो, इसलिए यह कह रहे हो कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। लेकिन विचार करके अच्छी तरह समझ लो कि तुम्हारा यह निश्चय टिकने वाला नहीं। तुम अपने स्वभाव के विरुद्ध भिक्षा पात्र उठाने की बात कह रहे हो, लेकिन यदि उसी समय इन्हीं में से कोई ललकार कर कह देगा- 'क्यों अर्जुन! इतना डर गए कि गाण्डीव भी पकड़े न रख सके,' तो तुम साधु वाला भाव बना कर रख पाओगे? उस समय तुम्हारे अन्दर का जो रजोगुण है वह तुम्हें शान्त रहने ही नहीं देगा। तुम्हारा क्षात्र तेज इतनी तीव्रता से जाग उठेगा कि तुम तुरत उसकी हत्या पर उतारू हो जाओगे। उस समय तुम्हें कदापि याद नहीं आएगी कि यह मेरा भाई बन्धु है। अभी तुम क्षत्रिय धर्म के अनुरूप कार्य नहीं कर रहे, उस समय संन्यास आश्रम के अनुरूप कार्य नहीं कर पाओगे। हे अर्जुन! तुम अच्छी तरह

समझ लो। यदि मन में जरा भी संशय है तो अभी ही निकाल लो। विचार कर लो ताकि बाद में पछताना न पड़े। यही कार्य अभी करोगे तो कर्तव्यपरायणता होगी और साधु बनने के बाद करोगे तो कर्त्तव्यच्युतता होगी। अर्जुन अपनी मूल प्रकृति को अनदेखा न करो और जीवन की योजनाएं भावना के अतिरेक में न बनाओ। मैंने कहा न, दोषयुक्त तो सभी कर्म हैं, दोष की चिन्ता कर कर्त्तव्य को छोड़ना उचित नहीं, और फिर मैंने तो दोष से मुक्त होने का उपाय भी बता दिया है तुम्हें- **'सुख दुखे समे कृत्वा लाभा लाभौ जया जयौ, ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।'** अर्थात् तुम सुख-दुख, लाभ-अलाभ, जय-पराजय में समता धारण कर लो, फिर युद्ध करो तो तुम्हें दोष नहीं लगेगा।

अर्जुन का संशय पूरी तरह दूर नहीं हुआ। उसकी हिचकिचाहट जा नहीं रही थी तब भगवान ने आगे कहा:-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।६१।।

हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्रणियों के हृदय में स्थित है, अपनी माया के द्वारा सबको यंत्र की भांति चला रहा है।

भगवान कहते हैं- अर्जुन तुम इस अहंकार को त्याग दो कि तुम्हारे करने से कुछ हो रहा है। यह तुम्हारा भ्रम है। वास्तव में तो परमात्मा ही है जो सबके हृदय में वास करता हुआ सबको चला रहा है, नचा रहा है। तुम तो यंत्र मात्र हो। तुम कर्ता भाव का लबादा मत ओढ़ो। कर्ता तो कोई और है जिसके अनुसार चलना तुम्हारी बाध्यता है। तुम अपने को कर्ता मानकर नाहक परेशानी मोल ले रहे हो।

महाभारत में कथा आती है कि युद्ध के बाद अर्जुन और भीम के प्रशंसकों में विवाद छिड़ गया कि अर्जुन ने अधिक लोगों को मारा या भीम ने। बात भीम और अर्जुन तक पहुंची। उन्होंने सोचा कि यह विवाद जारी रहना ठीक नहीं। वे श्री कृष्ण के पास चले कि वे इसे सुलझा देंगे। भगवान ने

कहा कि यह तो वही बता सकता है जिसने निरपेक्ष होकर पूरा युद्ध देखा हो। उन्होंने भीम के पौत्र बर्बरीक की याद दिलाई जिसने सर कटने के बाद भी युद्ध देखने की अभिलाषा प्रकट की थी और भगवान ने उसके सर को पेड़ से टांग दिया था। सभी उसके पास गए और पूछा कि आपने क्या देखा? उसने कहा कि मैंने तो यह देखा कि भगवान का चक्र युद्ध भूमि में घूम रहा था, उसी से लोग मर रहे थे। उसके बाद किसी को अर्जुन का बाण लग जाता किसी को भीम की गदा। भगवान ने अर्जुन को ग्यारहवें अध्याय में स्पष्ट कह दिया था कि इन सबको मैं पहले ही मार चुका हूं तुम तो निमित्त मात्र बनो।

भगवान को कहीं बैकुंठ लोक में या कैलाश पर्वत अथवा गोलोक मैं बैठा कोई न्यायधीश न मानें। वह तो हमारे पास क्या हमारे अन्दर ही है। वही तो करा रहा है सब कुछ। हम तो निमित्त मात्र हैं, लेकिन मुश्किल यह कि हम भ्रम में पड़े हुए हैं। अपने को निमित्त मात्र मान कर उस प्रकार की भावना रख नहीं पाते।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।६२।।

हे भारत, तू सब प्रकार से उस (परमेश्वर) की ही शरण में जा। उसकी कृपा से ही तू परम शांति तथा परम पद को प्राप्त होगा।

भगवान के इन शब्दों का अर्थ यही है- अहंकार को त्याग कर कर्म में लगना। अपने हृदय में यंत्री के रूप में प्रभु की उपस्थिति को पहचानना और उनकी शरण में जाना। इससे हमारे कर्म नहीं बदलेंगे पर भावना में आमूल परिवर्तन आ जाएगा। और याद रखें- हमारे जीवन के समस्त सुख-दुख भावनामूलक ही हैं।

मैं अमुक का पुत्र, अमुक का पिता, अमुक का पति हूं, उससे मुझे आदर मिलना चाहिए, उससे प्रेम मिलना चाहिए, उसे तो मेरा सम्मान करना ही चाहिए, आदि अनगिनत भावनाओं के ताने-बाने बुनते हुए हम इनके जंजाल

में फंसे रहते हैं और अशांति का अनुभव करते हैं। इन सबके बदले एक भाव आ जाए कि मेरी सामर्थ्य ही क्या, मुझे तो नचाने वाला वही है। वह जहां मुझे नचाता है वहीं मुझे नाचना है, तो भावनाओं का मकड़जाल हमें कैद नहीं कर पाएगा, हम उन्मुक्तता का अनुभव करेंगे। इसीलिए भगवान कहते हैं- हे अर्जुन! तुम अपने अन्दर स्थित परमात्मा की दिव्य ज्योति को पहचानो और उसकी शरण लो।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।।६३।।

इस प्रकार यह गोपनीय से भी अधिक गोपनीय ज्ञान मैंने तुझे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञान को पूर्णतया भलीभांति विचार कर जैसा चाहता है वैसा ही कर।

एक प्रकार से यह गीता के उपदेश का अंतिम श्लोक है। भगवान ने 'इति' शब्द का प्रयोग कर दिया है। संस्कृत में इसका उपयोग अंतसूचक अर्थ में किया जाता है। भगवान को ब्रह्मविद्या और जीवन तत्व का जितना उपदेश देना था, दे दिया। अर्जुन के सामने सारे रहस्यों को खोल कर रख दिया। अब वे कहते हैं- अर्जुन, निर्णय लेना तुम्हारा काम है। तुम्हारा जैसा जी चाहे करो।

हमारे धर्म ग्रन्थों में कहीं भी गुरु शिष्य पर शासन नहीं करते। कमांड देकर सेना से कवायद कराई जा सकती है, ब्रह्मज्ञान नहीं दिलाया जा सकता, मन का विकास नहीं कराया जा सकता। गुरु तो केवल निर्देश दे सकते हैं। कृपावश कुछ दूर तक शिष्य के साथ भी चल सकते हैं, लेकिन परमात्मा को पाने की यात्रा शिष्य को अकेले ही करनी होगी।

इस श्लोक में साधना का क्रम बताया गया है। पहले ध्यान पूर्वक सद्गुरु की वाणी सुनें। फिर बहुत अच्छी तरह मंथन करें। तब बात बुद्धि और मन में उतरेगी। फिर जो समझ में आए उसे व्यवहार में उतारें तब शरीर, मन, बुद्धि तीनों के स्तर पर साधना होगी। बिना विचारे साधना क्षेत्र में कूद

पड़ने से कुछ नहीं होगा और विचार कर लिया पर व्यवहार में नहीं उतारा तब भी रहेंगे मूढ़ के मूढ़ ही।

किन्तु यह सब बात तो सामान्य साधक के लिए है। अर्जुन तो शरणागत था। उसने तो पहले ही कहा था कि मेरे लिए जो कल्याणकारी साधन है उसे समझाकर कहिए और अब भगवान इतने सारे साधनों की बात बताने के बाद कह रहे हैं- यथेच्छसि तथा कुरु। स्वाभाविक ही वह खिन्न हो गया। उसे इतने लम्बे चौड़े उपदेश की आवश्यकता नहीं। उसने अपना रथ सौंप दिया है गोविन्द को, वे जैसे चाहें चलाएं, जो चाहें कराएं। उसकी इच्छा से करने की बात ही कहां उठती है।

भगवान ने उसके भाव को पहचान कर तुरंत व्यक्तव्य की धारा बदल दी-

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।।६४।।

सम्पूर्ण गोपनीयों से भी अधिक गोपनीय तू मेरे परम रहस्ययुक्त वचनों को फिर से सुन। तू मेरा दृढ़ इष्ट है, अतः इसे मैं तुम्हारे हित के लिए कहूंगा।

साधारण से लगने वाले इस श्लोक में भक्त और भगवान की लीला का बड़ा मधुर रहस्य छिपा हुआ है। भगवान ने अर्जुन को अपना भक्त बताया, अपना सखा बताया, अपने से प्रेम करने वाला बताया पर इस बार तो हद कर दी। कहते हैं तुम मेरे इष्ट हो। इष्ट वह होता है जिसकी हम पूजा करते हैं, या जिसे हम पाना चहते हैं। भगवान भक्त को कहते हैं तुम मेरे इष्ट हो। अर्जुन कहता है- मैं शिष्य बनकर आपकी शरण में आया हूं और भगवान कहते हैं- तुम मेरे इष्ट हो। दुनिया मुझे इष्ट मानती है और मैं तुम्हें अपना इष्ट मानता हूं। अर्जुन, मैंने दृढ़ता के साथ तुम्हारी आराधना की है, तुम्हें चाहा है, तुम्हें प्यार किया है। इसलिए हे पार्थ, तुम दुखी मत होओ। मैं तुम्हारे हित की बात फिर से कहूंगा। जितने साधन बताए हैं उसका निचोड़ रख दूंगा अब तुम्हारे सामने।

यदि कोई साधारण शिक्षक होता तो देखता कि इतनी देर समझाने के बाद भी विद्यार्थी का चेहरा वैसा ही शून्य है तो किताबें उसके सर पर पटक कर चल देता। पर यहां तो हम देख रहे हैं कि भगवान का प्रेम उमड़ आया है। क्या रहस्य है इसका?

अर्जुन के पास भगवान की बात समझने लायक बुद्धि नहीं थी यह बात नहीं। उसने पूरा व्याख्यान बड़े ध्यान से सुना था। उसने बीच-बीच में जो प्रश्न किए हैं उससे स्पष्ट समझ में आता है कि उसने बात पूरी तरह समझे बिना भगवान को आगे बढ़ने ही नहीं दिया। 'जनार्दन! मेरी बुद्धि को उलझाओ मत, साफ-साफ कहो,' जैसे शब्दों का प्रयोग बताता है कि उसने सारे उपदेश को बुद्धि द्वारा ग्रहण किया है, कोई भी संशय रहने नहीं दिया।

विशेष बात यह है कि सब कुछ बद्धि से समझने के बाद अब वह बुद्धि से परे जाना चाहता है। भगवान ने कह दिया कि तू अहंकार को त्याग कर मेरे उपदेश के अनुसार कार्य कर और फिर कह दिया- यथेच्छसि तथा कुरु।

अर्जुन की आंखें कह रही है- गोल मोल बातें कह कर क्यों मेरी परीक्षा ले रहे हो केशव? अहंकार त्याग कर तो मैं तुम्हारी शरण में आया हूं, फिर मेरी इच्छा से कुछ करने का प्रश्न ही कहां उठता है? ओ गोविन्द! मुझे अपनी बुद्धि, अपने विचार, अपनी इच्छा से क्या लेना देना। मैं तो बस इतना जानता हूं कि मैं रथी हूं, तुम सारथी। अब तो केशव, मुझे वैसे ही चलना है जैसे तुम चलाओ। ओ छलिया, यह तुम क्या कह रहे हो कि तुम्हारे हृदय में बैठा परमात्मा तुम्हें यंत्र की भांति चला रहा है उसकी शरण लो। मेरे हृदय में बैठ कर मुझे यंत्र की भांति चलाने वाला कोई और है क्या? मेरे हृदय में तो गोविन्द तुम बसते हो, केवल तुम! मुझे चलाने वाले तो तुम हो, केशव तुम! अब क्यों बहका रहे हो मुझे!

अर्जुन के इसी भाव ने उनको ऐसा द्रवित कर दिया कि वे उसे अपना परम इष्ट घोषित करने लगे। उसके लिए विशेष तौर पर सभी साधनों का निचोड़ कह डालने को तैयार हो गए।

सच पूछें तो गीता का कर्म, भक्ति, ज्ञान योग पढ़ लेने के बाद यदि

ऐसी शरणागति नहीं आई तो समझ लीजिए हम कोरे के कोरे ही हैं। अभी हमारी मूढ़ता जरा भी नहीं मिटी है। मन पर काले कन्हैया का रंग ऐसा चढ़े कि दूसरा उस पर चढ़ ही नहीं पाए तो समझें कि हम भगवान के विशेष वचनों को सुनने के अधिकारी हैं।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।६५।।

हे अर्जुन! तू मुझमें मन वाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा भजन कर, मुझे नमस्कार कर। ऐसा करने से तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुमसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूं, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है।

इस श्लोक का पहला भाग यहां दुबारा आया है। इसके पहले हमें नवें अध्याय के अन्त में भी भगवान ने यही बात कही थी। नवां अध्याय भी समर्पण की बात बताता है। यहां भी शरणागति का ही प्रसंग है। भगवान में मन लगाना किसे कहते हैं, भगवान का भक्त कैसे बन सकते हैं, भगवान की पूजा कैसे होती है, भगवान को नमस्कार करने का क्या अर्थ है यह सब हम नवें अध्याय में देख ही चुके हैं। अब यहां कुछ नये विचार देखें।

भगवान ने इस अठारहवें अध्याय में पहले तो ज्ञान भक्ति और कर्म योग का समन्वय प्रस्तुत किया। पहले तो चेतना रूप में हमारे भीतर स्थित परमात्मा का निरूपण करके कहा- **'तमेव शरणं गच्छ'** और अब अपने अर्थात् सगुण साकार स्वरूप के लिए कहते हैं- **मन्मना भव, मद्भक्त भव।** जो पहले होने वाला था, वही अब भी होगा।

जो निर्गुण निराकार है वही सगुण साकार है। जो ब्रह्म है वही कृष्ण है। ब्रह्म की प्राप्ति और श्री कृष्ण की प्राप्ति दो भिन्न-भिन्न बातें नहीं है। हम कौन सी राह चुने यह तो हमारे अन्तःकरण की क्षमता पर निर्भर करता है।

ध्यान देने की बात यह है कि भगवान ने पिछले श्लोक में कहा कि तुम मेरे इष्ट हो। भगवान का यह उपदेश (मन्मना भव मद् भक्तः भव) उनके लिए है जो भगवान के प्रिय हैं, उनके इष्ट है।

हमने श्री कृष्णको अपना इष्ट मान लिया। उनकी कथा सुनना अच्छा लगता है, उनका भजन गाना अच्छा लगता है। सुबह उठते ही उनकी याद आती है- पहले गोपाल को जगाया जाए, उसका शृंगार किया जाए। मन हमारा इन बातों में लगा रहता है। अतः हम समझते हैं कि हम गोपाल के भक्त हैं, हम तो उससे बड़ा प्रेम करते हैं। गोपाल मुझे प्रिय है तो कभी अपने आप को इस कसौटी पर भी परखने की कोशिश करें कि मैं गोपाल को प्रिय हूं या नहीं।

ऊपर से हम कितने ही अकड़े रहें, अपने अन्तर्मन में झांकने के बाद हम स्वयं अपने को पसन्द नहीं करेंगे। दूसरों को धोखा देना आसान है किन्तु अपने आप को धोखा देना कठिन है। कभी-कभी हम अपने आप को भी धोखा दे लेते हैं पर भगवान को धोखा देना तो कदापि संभव नहीं।

अपने जीवन का अवलोकन करें। क्या हमने वह सब किया है जिसके लिए हमारे प्यारे प्रभु ने हमें नर तन दिया है? विलक्षण शक्ति पाने के बाद क्या हमने अपने मन के राग-द्वेषों को जीतने का जरा भी प्रयास किया है? भगवान ने अपने प्रिय भक्तों के जो लक्षण गिनाए हैं वे हममें हैं? यदि नहीं तो क्या हम उन लक्षणों को धारण करने के लिए कुछ प्रयत्न कर रहे हैं।

गोपाल की मूरत की पूजा करते रहे और काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, प्रमाद में रचे-बसे रहें तो ऐसी पूजा किस काम की! जब तक हम भगवान के प्रिय नहीं बनेंगे तब तक पाप, शोक, मोह से मुक्ति नहीं हो सकती जिसके लिए भगवान अगले श्लोक में आश्वासन देंगे। बारहवें अध्याय के सात श्लोकों में भगवान ने बताया कि उन्हें कैसा नर, कैसा भक्त प्रिय है और फिर अन्त में यह बताया कि उनका अतिप्रिय कौन है।

उन्हें प्रिय वह भक्त है जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो अहंकार नहीं रखता, जो क्षमाशील और संतोषी है, जो दूसरों को कष्ट नहीं पहुंचाता जो सुख-दुख, शुभ-अशुभ, मान-अपमान, शीत-उष्ण, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति के प्रति समत्व भाव रखता है। और भगवान को अतिप्रिय वह है जो इन बातों को समझ कर ऐसा बनने के लिए प्रयत्न करता है। भगवान का प्रिय बनने की कोशिश करें। जीवन के दुखों से घबरा कर भगवान की शरण में जाने

से कुछ नहीं होगा। भगवान ने अर्जुन का दुख भी जादू की छड़ी घुमा कर दूर नहीं कर दिया। अपने को टटोल कर देखें कि भगवान हमारे सामने खड़े होकर कहें- यथेच्छसि तथा कुरु, जो जी चाहे करो तो क्या हम खिन्न होकर कहेंगे- मधुसूदन यह तुम क्या कह रहे हो? मुझे तो वह करना है जो तुम चाहते हो। तुम बताओ मैं क्या करूं। और तब श्री प्रभु कहेंगे:-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।६६।।

सब धर्मों का त्याग कर तुम मेरी शरण में चलो। मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा। शोक मत करो।

गीता का यह श्लोक अद्‌भुत है। पूरी गीता सुनने के बाद भगवान ने फिर से कहा है कि अब मैं परम गोपनीय बात कह रहा हूं। उन्होंने गुह्य, गुह्यतर के बाद अब इस श्लोक में गुह्यतम बात कह दी है। ऐसी बात कि गीता का पूरा निचोड़ आ जाए। यह श्लोक गागर में सागर है जिसमें सभी संतों, मुनियों, विचारकों ने गोता लगा-लगा कर अनमोल रत्न पाए हैं- अपनी अपनी रुचि के अनुरूप। किसी ने इसे गीता का सुन्दरतम श्लोक कहा है किसी ने चरम श्लोक बताया है।

इस श्लोक में विलक्षण बात यह है कि पूरी गीता में भगवान ने धर्म के बारे में बताया, धर्म युक्त जीवन जीने की प्रेरणा दी, स्वधर्म पर टिके रहने को कहा। यहां तक कह दिया- स्वधर्मे निधनं श्रेयः और अब अन्त में कह दिया-अर्जुन सभी धर्मों को त्याग दो। स्वयं कहा और स्वयं ही निषेध कर दिया।

ध्यान दें कि सर्वधर्मों के त्याग की यह बात एकदम अन्त में कही गयी है। पहले धर्म करो और फिर धर्म का त्याग करो। तब विचार उठता है जब धर्म का त्याग करना ही है तो धर्म के बखेड़े में पड़ा ही क्यों जाए? किन्तु यह बात ऐसी ही है कि जब अन्त में आग बुझानी है तो जलाई ही क्यों जाए। आग जलानी होगी, भोजन बनाना होगा, भूख मिटानी होगी तब आग

बुझाना भी जरूरी है।

आग बुझाना जरूरी समझ में आता है क्योंकि आग जली रह जाएगी तो हो सकता है किसी वस्तु में पकड़ ले और घर को जला डाले किन्तु धर्म के साथ खतरे की कोई बात ही नहीं। धर्म तो कल्याण कारी होता है और फिर धर्म को त्यागा भी कैसे जा सकता है? मनुष्य यदि धर्म को ही त्याग देगा तो टिकेगा कहां? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए डुबकी लगाएं तो बहुत सुन्दर-सुन्दर बातें हाथ में आएंगी।

गीता का ध्यान से अवलोकन करें तो हम पाएंगे कि भगवान ने कहीं भी निकृष्ट को त्याग कर उत्कृष्ट को ही पकड़े रहने की बात नहीं कही है। वे यह नहीं कहते कि दु:ख को छोड़ो सुख में रहो, वे यह नहीं कहते कि अशुभ का परित्याग कर शुभ का अभिनन्दन करो। वे तो सुख और दुख, शुभ और अशुभ, दोनों से परे रहने की बात करते हैं। वे तो पाप और पुण्य से भी ऊपर उठने की बात कहते हैं। जैसे दुख के साथ सुख के त्याग की बात सोचे बिना समत्व आ नहीं सकता उसी तरह पाप के साथ पुण्य की बात छोड़े बिना, अधर्म के साथ धर्म का भी परित्याग किए बिना चरम सिद्धि हो नहीं सकती। यह कैसा रहस्य है?

बात यह है कि धर्म का त्याग तो तब तक नहीं हो सकता जब तक हम धर्म को न पकड़ें। इसलिए दुस्संगति दुराचार को छोड़ने के लिए सत्कर्म, लोभ से छूटने के लिए दान आदि पुण्य कर्म अर्थात् धर्म करना आवश्यक है, नहीं तो अधर्म का त्याग हो नहीं सकता। इस लिए धर्म की बात बताई। अब आगे की बात बता रहे हैं कि धर्म करते-करते हमारे मन में ऐसी भावना होने लगती है कि मैं तो बड़ा धर्मात्मा हूं। धर्म के साथ जहां यह अहंकृत भाव आया वहीं धर्म कर्म भी दोषयुक्त हो जाता है, अत: इसे त्यागना भी जरूरी है। धर्म करते-करते उसके साथ अहंकृत भाव को त्यागना ही धर्म का त्याग करना है। इसका भाव यह है कि धर्म मैंने किया ही नहीं है तो धर्म मेरा कैसे हुआ? धर्म मेरा नहीं तो इसके फल के रूप में जो भी पुण्य या सुख मिलेगा वह भी मेरा नहीं।

सर्व धर्मान् परित्यज्य के पूरक वाक्य के रूप में भगवान ने कह दिया-

मामेकं शरणं व्रज अर्थात् मेरी शरण लो। जब भी हम विचार करे कि धर्म का त्याग करना है तब साथ ही मामेकं शरणं व्रज की बात भी सोचनी होगी। मैं तो प्रभु की शरण में हूं। उन्होंने मुझे बनाया, मेरे उपयोग के लिए सारी प्रकृति बनाई, पृथ्वी बनाई, उसी पृथ्वी से उपजा अन्न खा कर मेरा शरीर बना, ये मन बुद्धि बने जिनके द्वारा मैं कुछ धर्मयुक्त कर्म कर पा रहा हूं। जब मुझे, मेरे धार्मिक विचारों को, मेरे धर्म क्षेत्र को रचने वाले, चलाने वाले प्रभु हैं तो मैं कम्बख्त हूं ही क्या कि शान जमा पाऊं-'धर्म मैंने किया।' मेरे प्रभु ने मुझसे करवाया है यह विचार रखना ही धर्म का परित्याग करना और प्रभु की शरण में जाना है। न प्रभु की शरण लिए बिना धर्म का परित्याग संभव है न धर्म के परित्याग के बिना प्रभु की शरणागति सच्ची मानी जाएगी। स्त्री एक ओर तो पैसे जोड़ती जाए दूसरी ओर हर वक्त पति को समझाए कि मैं तो तुम्हारे प्रति समर्पित हूं, तुम जो कहोगे वही करना है मुझे, जो दोगे वही स्वीकार करना है; तो यह कैसा समर्पण है? ऐसे समर्पण के द्वारा लौकिक पति को भुलावे में रखा जा सकता है, मायापति को नहीं। उन्हें पूर्ण समर्पण चाहिए। लेशमात्र भी मेरापन न रहे- अपने धर्म, अपने कर्तव्य के प्रति भी नहीं। मैं नहीं, मेरा नहीं- तू, बस तू ही, बस तू ही। यह भाव है सब धर्मों को त्याग मामेकं शरणं व्रज का। मेरी शरण लो, मुझे पहचानो। मैं जो तेरे हृदय में स्थित होकर सारे खेल रचा रहा हूं उसकी ओर देखो, बाकी सबकी ओर से आंखें हटाकर मुझे देखने-जानने का प्रयत्न करो, मेरी ओर आओ, मेरी ओर चलो।

धर्म का सामान्य आचरण तो हम बाहरी जगत में करते हैं। बाह्य जगत की यात्रा छोड़ अन्तर्जगत की यात्रा करें- यह अर्थ है मामेकं शरणं व्रज का। तब क्या होगा? भगवान कहते हैं- मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूंगा। धर्म का फल पुण्य है। अधर्म का फल पाप है। हम पुण्य पाना चाहते हैं और पाप से छूटना चाहते हैं। संविधान इसके विपरीत बात कहता है। वह कहता है कि पुण्य से भले छूट जाएं, पाप तो आपको भोगना ही होगा। जैसे किसी को कुछ अच्छे कार्य के लिए सरकार की ओर से एक लाख रुपए का पुरस्कार मिला तो वह कहता है कि यह पुरस्कार मैं नहीं लूंगा, मुझे नहीं चाहिए। इसे आप गरीबों में बांट दीजिए। लेकिन यदि एक मास का कारावास मिले तो

वह नहीं कह सकता कि मैं नहीं लूंगा कारावास, किसी और को दे दीजिए। इस आधार पर भी नहीं कह सकता कि सर्व श्रेष्ठ उपन्यासकार के नाते पिछले साल जो एक लाख रुपए मिले वह जब मैंने नहीं लिए तो इसे लेने की बाध्यता कैसी! अदालत कहेगी- पुरस्कार का त्याग तुम कर सकते हो, तुम्हारी मर्जी है पर दंड तो तुम्हें स्वीकार करना ही होगा।

हमारे कृपालु भगवान का संविधान अलग है। यहां भगवान फिफ्टी-फिफ्टी का सौदा कर रहे हैं। अर्जुन एक काम तुम करो, एक काम मैं करूंगा। तुम पुण्य छोड़ो, पाप छुड़ाने की जिम्मेदारी मेरी- अहं त्वा सर्व पापेभ्य: मोक्षयिष्यामि। अर्जुन मैं जानता हूं कि पाप छोड़ना बहुत कठिन है इसलिए यह काम मैं अपने जिम्मे लेता हूं तुम चिन्ता न करो, शोक न करो- मा शुच।

हम समझते हैं कि हम निष्पाप हैं, हम गलत काम करते ही नहीं। पर यह हमारी भूल है, हमारा भ्रम है, हमारी नासमझी है। हम कहां-कहां क्या-क्या गलतियां करते हैं हमें मालूम थोड़े ही पड़ता है। जब हम पहचान ही नहीं पाते कि पाप क्या है तो उसे छोड़ ही कैसे सकते हैं? हमें स्वीकार करना चाहिए कि हममें दोष है और उसको छुड़ाने की सामर्थ्य परमात्मा में ही है। उसकी ओर चले बिना, उससे एक हुए बिना कोई निष्पाप नहीं हो सकता। भगवान कहते हैं- धर्म तुम छोड़ सकते हो तुम छोड़ो, पाप मैं छुड़वा सकता हूं सो मैं छुड़वाऊंगा। जैसे पुत्र पिता की सम्पत्ति लेता है तो उसका ऋण चुकाने की जिम्मेदारी भी उसी की हो जाती है; जब हम अपने पुण्य कर्म भगवान को अर्पित करते हैं तो भगवान उसे स्वीकार करते हुए हमारे ऋण को भी चुकाने का वचन देते हैं। वे हमारे पाप भी उत्तराधिकार में लेकर उससे हमें मुक्त करना अपना कर्तव्य मानते हैं।

ध्यान योगी इस श्लोक का अर्थ अपनी रुचि, अपने विचारों के अनुसार लेते हैं। उनके लिए इस श्लोक में ध्यान के लिए बड़े महत्वपूर्ण निर्देश हैं।

धर्म की परिभाषा यों दी जाती है कि किसी वस्तु का वास्तविक गुण ही उसका धर्म है जिसके बिना वह वस्तु नहीं रहती। जैसे चीनी का धर्म मिठास है क्योंकि मिठास के बिना चीनी चीनी नहीं कहलाएगी। इस प्रकार

आंख का धर्म है देखना, कान का धर्म है सुनना, बुद्धि का धर्म है विचार करना। मनुष्य इन सबसे बना है। अतः इन सबका धर्म मनुष्य का धर्म हो जाता है। सर्व धर्मान् परित्यज्य का अर्थ है हमारी सारी इन्द्रियां अपना अपना धर्म कर्म छोड़े दे और मामेकं शरणं व्रज का अर्थ है आत्मा में केन्द्रित हों। मा शुचः यानी शोक न करने का भी गूढ़ अर्थ है। शोक हमें तब होता है जब परिस्थितियां अनुकूल नहीं होती। परिस्थितियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता हमारे राग-द्वेष पर निर्भर करती है। राग वाली वस्तु मिले तो अनुकूलता यानी खुशी, द्वेष वाली वस्तु मिले तो प्रतिकूलता यानी शोक। अतः शोक को त्यागने का अर्थ है राग-द्वेष को त्यागना।

तात्पर्य यह है कि आसन पर बैठें तब समस्त इन्द्रियों के स्वाभाविक कर्मों को रोक दें। राग-द्वेष का बहिष्कार कर दें और सारी चेतना आत्मा पर केन्द्रित करें। भगवान का आश्वासन है कि इससे हमारे पाप अर्थात् वासनाएं दूर हो जाएंगी। वासना का पर्दा ही जीव ब्रह्म को अलग करता है। यदि वासना दूर हो जाए तो जीव ब्रह्मरूप ही हो जाएगा।

ये तो ज्ञानियों-ध्यानियों की बातें हैं। सीधा-साधा, मीठा-मीठा अर्थ यह है कि धर्म-अधर्म, स्वधर्म-परधर्म आदि के बारे में बड़े-बड़े व्याख्यान सुनने के बाद भी बात बनती न दिखाई दे, ऐसा लगे कि प्रभु ने स्थितप्रज्ञ होकर समत्व धारण करने को कहा, लेकिन मेरे राग-द्वेष तो छूट ही नहीं रहे। कैसे सुख-दुख, मान-अपमान, हानि-लाभ में समता आए? प्रभु ने गुणातीत होने की बात कही लेकिन मुझमें तो राजसिक प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि मन एक क्षण को भी शांत नहीं होता। कुछ समझ में नहीं आता तो बस भगवान की शरण लें- 'कन्हैया! क्या करूं मैं! अपने हृदय में झांकता हूं तो राग द्वेष के मल, वासना की दुर्गन्ध और ईर्ष्या, लोभ, क्रोध के चक्रवात के सिवा और कुछ दिखाई नहीं देता। कन्हैया, मैं कैसे कहूं कि मेरे मन मंदिर में आन बसो। अपने इस कलुषित मन को मंदिर कैसे कहूं किन्तु हे गोविन्द! हे गोपाल! तुम्हारे सिवा और दूसरा है भी कौन जिसे मैं निमंत्रण देने का साहस भी कर सकूं। कन्हैया! तुम्हीं तो हो जिसने गायों के गोबर और मूत्र के बीच नाच-खेल कर ब्रज की रज तक को पतित पावन बना दिया। कन्हैया! तुम्हारे लिए कुछ भी असंभव नहीं। तुम्हीं इस मन को मंदिर बना सकते हो। तुम्हारे सिवा दूसरा

और कौन है जो मुझे शरण दे सके। मुझमें कहां बल है कि हृदय की दुर्बलताओं से जीत पाऊं? तुम सर्व समर्थ हो कन्हैया, तुम्हारी कृपा दृष्टि हो जाए तो कुछ भी असम्भव नहीं है।'

यदि सच्चे हृदय से यह पुकार निकली तो निश्चित रूप से मुरली मनोहर हाथ फैलाएं तैयार खड़े होंगे– 'आओ न तुम, मेरी शरण में चलो, मेरे निकट आओ। देखो, मैंने हाथ फैला रखे हैं, मैं तुम्हें गिरने नहीं दूंगा। तुम चिन्ता न करो, मैं तुम्हारी सारी दुर्बलताएं दूर कर दूंगा। जैसे डगमगाते कदमों से खड़े होने का प्रयत्न करते हुए शिशु से पिता कहे 'बेटे एक कदम आगे बढ़ाओ तो सही, मैं तुम्हें गिरने नहीं दूंगा। तुम मेरा विश्वास करो।'

परम दयामय सर्व समर्थ कृपालु भगवान के इन कथनों के साथ ही उनका यह परम उपदेश भी समाप्त होता है। इसके बाद भगवान उपसंहार के रूप में कुछ बातें कहते हैं।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।६७।।

तुम्हें इसे किसी भी काल में न तो तपरहित मनुष्य से कहना चाहिए न ही सुनने की इच्छा न रखने वाले से कहना चाहिए, न ही उससे जो मुझमें दोष दृष्टि रखता है।

प्राय: सभी शास्त्रीय ग्रंथों के अंत में यह बताने की परम्परा है कि ग्रंथ के पठन पाठन का अधिकारी कौन है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि अनाधिकारी पढ़ ले तो उस पर वज्र टूट पड़ेगा। बात केवल इतनी होती है कि जिसमें बताए गए गुण नहीं होंगे उसे उस ग्रंथ से कोई लाभ नहीं होगा।

गीता का यह श्लोक इसलिए महत्वपूर्ण है कि इससे हमें पता चलता है कि हममें कौन कौन से गुण होने चाहिए जिससे गीता के पठन पाठन, अध्ययन का हमें लाभ मिल सके। यदि ये गुण हम अपने आप में नहीं पाते हैं तो उन्हें विकसित करने की ओर ध्यान दें तभी हमारा मन ऐसी उपजाऊ भूमि बनेगा जिसमें ज्ञान का पुष्प खिल सके। बंजर जमीन में बीज बोना बेकार

है। भगवान कहते हैं कि जो तपरहित है उसे गीता नहीं सुनाई जानी चाहिए। किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए हम जो कष्ट सहन करते हैं उसे तप कहते हैं। धन कमाने के लिए जान हथेली पर रखने तैयार होते हैं, रात-दिन परिश्रम करते हैं, बड़ी-बड़ी शारीरिक व्याधियां पाल लेते हैं किन्तु चाहते हैं कि जीने का परम फल बिना मेहनत किए बस प्रवचन सुन लेने मात्र से मिल जाए। ऐसा कैसे सम्भव है? अतः जो गीता में बताए गए निर्देशों के अनुसार साधना करने की मानसिकता नहीं रखते उसे गीता सुनना बेकार है।

दूसरा लक्षण भगवान बताते हैं- भक्ति। जो भक्त नहीं वह गीता का अधिकारी नहीं। हम समझ लेते हैं कि गीता तो ज्ञान का ग्रन्थ है, या यह समझते हैं कि गीता तो कर्मयोग का प्रतिपादन करती है, हम भी संसार में बस सेवा कार्य करने को ही अच्छा मानते हैं, भगवान भगवान करना तो बेकारों का काम है तो यह समझ लें कि यदि दिल में कन्हैया लाल के लिए प्यार नहीं उमड़ा तो गीता के कर्मयोग का रहस्य कभी नहीं समझ में आएगा। भगवान ने कहा है- **गीता मे हृदयं पार्थ**- हे पार्थ, गीता मेरा हृदय है। हृदय की बात तो उसे ही कही जाती है जिससे हम प्रेम करते हैं और जो हमें प्रेम करता है। भगवान ने अर्जुन को कहा है कि गीता का यह ज्ञान मैं तुम्हें इसलिए सुना रहा हूं कि तुम मेरे भक्त हो, मेरे सखा हो। विश्वरूप दर्शन के बाद उन्होंने स्पष्ट कहा था कि यह रूप, ज्ञान, तप या दान आदि के बल पर नहीं केवल भक्ति के बल पर ही देखा जा सकता है। उन्होंने अर्जुन को गीता का अधिकारी इसलिए नहीं समझा कि वह वीर था, वह क्षत्रिय था या वह दुखी था। उन्होंने केवल यह गुण देखा कि अर्जुन मेरा भक्त है, मेरा प्रिय है। यदि हम चाहते हैं कि गीता हमारे शोक मोह को उसी प्रकार नष्ट करे जैसे अर्जुन का किया था, तो सबसे पहले कन्हैया को प्यार करना सीखें। यही एक वस्तु है जो हम उसे दे सकते हैं। तीनों लोकों के मालिक, सम्पूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी श्री कृष्ण भी यदि किसी चीज की चाह प्रकट करते हैं तो वह है प्रेम।

जो सुनने की इच्छा न रखे, जिज्ञासु ही न हो उसके लिए भी गीता ज्ञान व्यर्थ ही होगा। भगवान वर्षों अर्जुन के साथ रहे किन्तु यह तत्व ज्ञान तभी दिया जब अर्जुन व्याकुल हो कर पुकार उठा- हे कृष्ण, मुझे समझ में नहीं आता कि मेरा धर्म क्या है। मैं तुम्हारी शरण में हूं, मुझे शिष्य मान कर

मुझे बताओ कि मेरा कल्याण किसमें है। जब तक संसार में सुख खोज-खोज कर हम निराश नहीं हो जाएंगे, जब तक शाश्वत सुख की चाह और जिज्ञासा नहीं जागेगी तब तक न संसार के भोगों का आकर्षण छूट सकता है न ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

जो भगवान श्री कृष्ण के प्रति निंदा भाव रखता है वह भी गीता का अधिकारी नहीं। यह तो बड़ी सीधी सी बात है। यदि विद्यार्थी यह समझता रहे कि शिक्षक तो ठग है, झूठा है, फरेबी है तो वह विद्या क्या प्राप्त करेगा? भगवान कृष्ण की लीला तो इतनी रहस्यपूर्ण है कि तत्व पर विचार न करने वालों के पास बहुत सी बातें होती हैं उनके विरुद्ध। उन्होंने चोरी क्यों की, उन्होंने गोपियों के वस्त्र हरण करने जैसी छिछोरी हरकत क्यों की, उन्होंने पराई स्त्रियों के साथ रास क्यों रचाई, उन्होंने इतनी सारी औरतों से विवाह क्यों किया, उन्होंने भाई भाई को क्यों लड़वाया, उन्होंने युद्ध भूमि में इतना छल क्यों किया? बहुत से लोग इन बातों को लेकर विवाद करते रहेंगे किन्तु इन लीलाओं का रहस्य जानने की जिज्ञासा के साथ शुद्ध अन्तःकरण लेकर किसी ज्ञानी महात्मा के पास जाने की तकलीफ नहीं करेंगे। यदि कोई महात्मा सोचे कि वह मेरे पास नहीं आता तो क्या हुआ, मैं ही उसे पकड़ कर सारा ज्ञान दे डालूं तो ऐसा सोचना बेकार है। वे कभी सफल नहीं होंगे, क्योंकि द्वेष रखने वाले व्यक्ति वास्तव में सच जानना ही नहीं चाहते।

गीता के अधिकारी की चर्चा करने के बाद अब भगवान इसके फल के विषय में बताते हैं:-

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैश्यत्यसंशयः ।।६८।।

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त शास्त्र को मेरे भक्तों में कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा- इसमें कोई संदेह नहीं है।

गीता को सुनने वाला भगवान का भक्त हो और सुनाने वाला भी भगवान का भक्त हो, सबसे मुख्य बात यही है। जो भगवान से प्रेम करेगा उसमें पिछले

श्लोक में बताई गई दूसरी कमियां हो ही नहीं सकतीं।

गीता के पठन-पाठन से धन की प्राप्ति, भूत-प्रेतों से मुक्ति, संसार के संकटों से छुटकारा, विभिन्न प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति आदि का आश्वासन भगवान नहीं दे रहे। जो भक्त बनकर गीता सुनाएगा उसके लिए तो इनका महत्व रह ही नहीं जाएगा। स्वयं सकाम होकर वह निष्कामता का उपदेश कैसे करेगा? और निष्काम पुरुष को यह कह कर भी क्या फायदा कि अमुक काम करोगे तो तुम्हें मनोवांछित फल मिलेगा। निष्काम भक्त की सारी कामनाओं को तो ये परम कामनाएं लील लेती हैं- मेरे गिरधर मुझे मिल जाएं, मेरे कन्हैया मुझे अपना लें, मेरे गोविन्द मुझे अपने चरण कमलों मे स्थान दें, मेरा मन केवल कमल नयन वनमाली का ही चिंतन किया करे, मेरी रसना केवल हरे कृष्ण श्री कृष्ण रटा करे।

पूर्ण काम भगवान कहते हैं- ऐसे भक्त को नि:सन्देह मैं मिलूंगा यह मेरा वादा है। हम आर्त होकर भी कन्हैया के भक्त बन सकते हैं, अर्थार्थी होकर भी और जिज्ञासु होकर भी। किन्तु इन तीनों प्रकार की भक्ति में पूर्णता नहीं है। हमारे दु:ख समाप्त हो जाएं, हमें सुख की प्राप्ति हो जाए या हमारी जिज्ञासा का समाधान हो जाए तो संभव है कि हमारी चित्त वृत्तियां भगवान को छोड़ दूसरी दिशा में बहने लगें। किन्तु जो व्यक्ति गीता के विषय में दूसरों को भी बतलाने लगता है उसका स्वयमेव प्रगाढ़ चिन्तन और मनन होने लगता है। उसकी भक्ति ज्ञान के साथ संयुक्त हो जाती है। गीता का एक-एक श्लोक अत्यन्त सारगर्भित है। केवल सुनने मात्र से उनका गूढ़ अर्थ हृदय में उतर सकता है नहीं भी। किन्तु जब किसी को बताने का उद्देश्य हो जाता है तब चिंतन प्रक्रिया भी गहन हो जाती है। तब कोई श्लोक अधूरा समझ कर नहीं छोड़ा नहीं जा सकता। ये श्लोक चिंतन प्रवाह को इस भांति अपनी ओर खींच लेते हैं कि संसार का कार्य कुशलता पूर्वक करते हुए मन की वृत्तियां प्रभु की वाणी में ही रमी रहती है। और फिर गीता है भी ऐसा शास्त्र जो हमारे जीवन से बहुत गहरा जुड़ा हुआ है। गीता के निर्देशों का हम अपने दैनिक जीवन में प्रयोग कर सकते हैं। जो व्यक्ति बहुत देर चिंतन करेगा वह थोड़ा-बहुत तो प्रयोग भी करेगा ही, उसे लाभ होगा ही और उसकी आस्था बढ़ेगी ही कि प्रभु की वाणी को जीवन में पूर्णत: उतारा जाए। गीता तो दो-चार प्रतिशत

भी जीवन में उतर जाती है तो अद्‌भुत सुख का अनुभव होता है। व्यवहार और परमार्थ दोनों कुशलतापूर्वक साधते हुए व्यक्ति विकास करता जाता है। ऐसे में भगवान के ये वचन कि 'तुम मुझमें आ मिलोगे इसमें कोई संशय नहीं' उसके लिए सुधा तुल्य हैं।

ऐसे भी बहुतेरे गीता वाचक मिलेंगे जो व्याख्यान तो अति सुन्दर दे लेते हैं किन्तु व्यक्तिगत जीवन सामान्य व्यक्ति की ही तरह है। जरा-जरा सी समस्या पर घबरा उठते हैं, जरा-जरा सी प्रतिकूलताओं की शिकायत करते रहते हैं। उनका विरोधाभासी व्यक्तित्व लोगों को चक्कर में डाल देता है। वास्तव में ऐसा उनके साथ होता है जो अपने पाण्डित्य प्रदर्शन, ख्याति या जीविका के लिए व्याख्यान देते हैं। ध्यान दीजिए कि भगवान ने यहां उन लोगों की बात कही है जो भक्त हैं, भक्तों को सुनाते हैं। जो भक्त हैं उनमें वर्तमान में कुछ दोष दिखाई देते भी हैं तो प्रभु की घोषणा है कि वे दूर अवश्य होंगे। उनका भक्त अन्ततः उनमें मिलेगा ही। पूर्ण निर्दोष तो परमेश्वर ही हैं।

आगे देखें, भगवान कुछ और भी घोषणाएं कर रहे हैं:-

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।।६९।।

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है तथा पृथ्वी भर में उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्य में होगा भी नहीं।

भगवान जब कृपा पर उतारू होते हैं तो झोली भर जाती है पर उनका प्रसाद समाता नहीं। गीता का प्रचार करने वाले को ऐसा प्रिय बता डाला जैसा कि कहीं भी किसी काल में भी नहीं हुआ है, न होगा। भक्ति के जितने भी साधन हैं उनमें सबसे बड़ा साधन भगवान के हृदय के इन भावों को जन-जन तक पहुंचाना है। इससे अपना भी कल्याण होता है और श्रोता का भी।

आज जगत में चारों ओर जो दुःख और पीड़ा की कराह सुनाई दे

रही है उन सबके मूल में अज्ञान और मोह है। गीता तो मोह पर ही सीधे गदा प्रहार करती है। भगवान तो सभी को प्यार करते हैं लेकिन संसार के प्रति मोह के कारण हमारी दृष्टि उस दिशा में घूमती ही नहीं। जिसका मोह जितना अधिक दूर होगा उतना ही वह प्रेम मूर्ति श्री कृष्ण के अलौकिक प्रेम का अनुभव कर पाएगा और ऐसा दिव्य अनुभव क्षणिक नहीं होगा, किसी स्थान विशेष में सीमित नहीं होगा। हर जगह, हर समय यह दिव्य अनुभूति साथ रहेगी।

भगवान ने गीता का प्रचार करने वाले को अत्यन्त प्रिय बताकर उसे अपना ही पद देने का वादा किया किन्तु सबमें तो इतनी सामर्थ्य नहीं होती। व्याख्यान देने के लिए तो वाणी का ओज चाहिए, अन्य प्रकार से प्रचार करने के लिए भी धन या अनेक प्रकार की क्षमताओं का होना आवश्यक है। जिसमें ये गुण नहीं वह क्या करे?

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।।७०।।

जो पुरुष हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञान यज्ञ से पूजित होऊंगा। ऐसा मेरा मत है।

भगवान कहते हैं कि मेरी प्राप्ति के लिए वक्ता या प्रचारक होना जरूरी नहीं। जो गीता शास्त्र का अध्ययन करता है वह भी मेरे मत में ज्ञान यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है। स्मरण रहे कि भगवान ने चौथे अध्याय में बताया था कि ज्ञान यज्ञ सभी यज्ञों से श्रेष्ठ है। तीसरे अध्याय में बताया था कि यज्ञ ही कर्म बन्धन से छुड़ा सकता है। इस प्रकार गीता का अध्ययन भी हमें परम पद दिलाने में समर्थ है। अध्ययन का अर्थ है श्लोकों के पाठ के साथ-साथ उनके अर्थ पर भी भली भांति विचार करना। ऐसा करने से सगुण निर्गुण, निराकार साकार के तत्व का यथार्थ ज्ञान हो जाता है अतः कल्याण कामी पुरुष को गीता का तत्परता के साथ अध्ययन करना चाहिए।

यदि अध्ययन करने पर भी लगे कि मोह नष्ट नहीं हुआ है तो भगवान

की वाणी पर संशय न कर यही समझना चाहिए कि अभी तक मैं भगवान के उपेदश को यथार्थ नहीं समझ पाया हूं। अतः पुनः पुनः उस पर श्रद्धा और विवेक के साथ विचार करना आवश्यक है।

जिसके पास अध्ययन और विचार करने योग्य बुद्धि नहीं उसके लिए भगवान का कहना है:-

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपिमुक्तःशुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।।७१।।

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टि से रहित होकर इसका श्रवण भी करेगा, वह भी पापों से मुक्त होकर उत्तम कर्म करने वालों के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा।

भगवान कहना चाहते हैं कि जिससे गीता का अध्यापन या अध्ययन न बन पाए उसे इसका श्रवण तो अवश्य ही करना चाहिए। श्रवण के साथ-साथ जो शर्तें बताई वे हैं दोष दृष्टि का न होना तथा श्रद्धा होना। कितने लोग प्रवचन सुनते हैं तो उनका ध्यान इस बात पर कम होता है कि महात्मा जी ने जो बात बताई वे जीवन मैं कैसे उतारी जाए? उनकी बुद्धि तो दूसरी तरह काम करती है। वे केवल यही सोचते रहते हैं कि अमुक तर्क को काटा कैसे जाए। इस प्रकार की दोष दृष्टि न रख श्रद्धा रखनी चाहिए।

आध्यात्मिक विकास में श्रद्धा का स्थान बहुत ऊंचा है। ऐसे भी लोग होते हैं जो गीता के प्रवचन में कुछ समझ नहीं पाते लेकिन भाव विह्वल होकर सुनते हैं क्योंकि साक्षात् नारायण के मुख से निकली हुई वाणी है। श्लोकों के गूढ़ अर्थ को भले ही वे न जान पाए पर उनकी श्रद्धा उनका योग श्री कृष्ण के साथ करा देती है। उन्हें अनायास ही योग का फल मिल जाता है।

इस प्रकार अर्जुन को गीता के कथन, अध्ययन और श्रवण का महात्म्य बताने के बाद भगवान ने अर्जुन से प्रश्न किया-

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय। ॥७२॥

हे पार्थ! क्या इसको तू ने एकाग्रचित होकर श्रवण किया? और हे धनन्जय! क्या तेरा अज्ञान जनित मोह नष्ट हो गया?

भगवान ने अर्जुन से यह जो प्रश्न किया है इसमें हमें दो सूत्र मिलते हैं। एक तो यह कि श्रवण करें तो एकाग्रचित होकर करें। यदि मन इधर उधर भटकता रहा हो तो यह मानें के कमी अपनी एकाग्रचित्तता में है।

दूसरा सूत्र हमें यह बताता है कि गीता का प्रयोजन क्या है। यह बात गीता की भूमिका के अन्तर्गत भी कही गई थी कि कुछ विद्वान गीता का प्रयोजन बताने के लिए इसी श्लोक को प्रमाण मानते हैं। जब हम कोई काम खत्म करते हैं तब देखते हैं कि प्रयोजन पूरा हुआ कि नहीं। यहां भगवान गीता का उपदेश समाप्त करने के बाद पूछ रहे रहे हैं कि अर्जुन तेरा मोह नष्ट हुआ कि नहीं अर्थात् गीता का प्रयोजन मोह पर गदा प्रहार है।

जीवन में हमारी पराजय, हमारे शोक का मूल कारण मोह है। जो चीज जैसी है वैसी न दिखाई दे तो उसे मोह कहते हैं। जो हम नहीं वह अपने आप को समझते हैं, जो वस्तु हमारी नहीं है उसे अपनी समझते हैं- यही मोह है, यही अज्ञान है। जब तक इस मोह से मुक्ति नहीं पा लेंगें तब तक संसार के संघर्ष में यूं ही हाथ पैर पटकते रहेंगे। कभी लगेगा जीत गए, कभी लगेगा हार गए। कभी लगेगा कि क्या करें समझ में नहीं आता, और कभी लगेगा कि सब छोड़-छाड़ कर चल देने के अलावा और कोई चारा नहीं है।

हमारे जीवन की समस्याओं में इतनी विभिन्नता है कि कभी-कभी तो ऐसी स्थिति हो जाती है कि एक समस्या का हल दूसरी समस्या को साथ-साथ जन्म देता जान पड़ता है। महात्मा लोग कहते हैं कि गीता में जीवन की सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर जीवन की कला बताई गई है तो इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें बताया गया है कि भयंकर सर दर्द हो तो क्या करना चाहिए, बेटा शराबी हो गया हो तो क्या करना चाहिए, बेटी पढ़ाई के बदले फैशन पर ज्यादा ध्यान देती हो तो क्या करना चाहिए।

ये समस्याएं क्यों पैदा होती है और हम इनका समाधान क्यों नहीं ढूंढ़ पाते? एक हद तक इसका कारण हमारा अपने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के प्रति नासमझी है और इस नासमझी के मूल में होता है मोह- जिसका एक रूप है आसक्ति। निरासक्त होकर परिस्थिति का आकलन कर अपना कर्त्तव्य सुनिश्चित कर उसका दृढ़ता से पालन करेंगे तो बहुत सी समस्याएं पैदा ही नहीं होगी और कुछ बाह्य परिस्थितियों वश आएंगी भी तो हमें विचलित नहीं कर पाएगी। हम उनका सामना अधिक कुशलता पूर्वक कर पाएंगे जिससे उनके सुलझने की संभावना अधिक होगी फिर भी यदि अनुकूल परिस्थिति न आई तो भी हम मानसिक शांति बनाए रख पाएंगे।

अर्जुन भी जब युद्ध भूमि में आया तो उसकी स्थिति समस्याग्रस्त पुरुष की सी नहीं थी। वह तो अत्यन्त उत्साह में था। जिस घड़ी की वह बरसों से प्रतीक्षा कर रहा था, जिसके लिए वर्षों से नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र जमा करते हुए तैयारी कर रहा था, वह घड़ी आ गई थी। उस समय भी उसे मालूम था कि पितामह गुरु और अपने ही अन्य सम्बन्धी उसके विरुद्ध खड़े हैं पर उनका मोह उसे आवेशित नहीं कर पाया था। जैसे ही वह मोह से आविष्ट हुआ उसे लगने लगा कि वह बहुत परेशान है, बहुत तकलीफ में है, बहुत बड़ी समस्या से घिरा हुआ है। वह भूल गया कि क्षत्रिय के नाते अनाचार के विरुद्ध शस्त्र उठाना उसका कर्त्तव्य है। वह यह भी भूल गया कि युद्ध की परिस्थितियां कौरवों ने ही पैदा की है। वह अपनी शक्ति भी खो बैठा।

भगवान ने उसकी परिस्थितियां नहीं बदली किन्तु उसके मन की इस अस्वाभाविक अवस्था को बदलने का प्रयास किया। वे उसके मोह को दूर करना चाहते थे क्योंकि भगवान कृष्ण आधुनिक चिकित्सों की भांति 'इंस्टैन्ट' इलाज में विश्वास नहीं करते। उन्होंने तो जानबूझ कर रथ को भीष्म और द्रोण के सामने ले जाकर खड़ा करते हुए अर्जुन से कहा था- देख लो इनको। वे जानते थे कि अर्जुन अभी उत्साह में है पर बाद में इतने लोगों की हत्या होने पर दु:खी और विषादग्रस्त हो जाएगा जैसे धर्मराज हुए थे। इसलिए उन्होंने निर्मोह रूपी शस्त्र से भी उसे पहले ही सुसज्जित कर दिया। मोह दिला कर मोह से छूटने का उपाय बताना ही लीला पुरुषोत्तम की योजना थी जिससे अर्जुन के बाद भी लाखों लोगों के जीवन में सुधार हो सके। इसलिए उन्होंने

पूछा- अर्जुन तुम्हारा मोह दूर हुआ कि नहीं? अर्जुन ने उत्तर दिया-

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।७३।।

हे अच्युत! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूं अतः आपकी आज्ञा का पालन करूंगा।

अर्जुन ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि उसका मोह और संशय पूरी तरह दूर हो गया है और उसे स्मृति की प्राप्त हो गई है।

हम सभी चिदानंद स्वरूप है लेकिन संसार की वस्तुओं व्यक्तियों का मोह हमें ऐसा लुभा लेता है कि हम अपने स्वरूप को भूल जाते हैं और उटपटांग व्यवहार करने लगते हैं। सद्गुरु की कृपारूपी वाणी हमें अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराने में समर्थ होती है। जब यह ज्ञान हो जाता है तो क्या करना चाहिए क्या नहीं का संदेह नहीं रह जाता।

अर्जुन के व्यक्तित्व का विरोधाभास देखें। उसने अपने जीवन रूपी रथ की बागडोर श्री कृष्ण को सौंप रखी थी फिर भी भ्रम में पड़ गया कि क्या करूं, क्या न करूं। विषाद ग्रस्त होने के बाद आर्त होकर पुनः शरणागति की बात दोहराता है। वह कहता है- भगवान मुझे बताइए कि मेरा कल्याण किसमें है? मैं आपकी शरण में हूं और उसी सांस में घोषणा कर देता है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा। यह कैसी शरणागति! जब आपने शरण ले ली तो निर्णय भगवान सुनाएंगे। लेकिन हम सब यही करते हैं। भगवान की शरण में जाते हैं और चाहते हैं कि वे हमारी इच्छानुसार चले क्योंकि हमने सुना है भगवान कहते हैं- मैं भक्त के पराधीन हूं। हम भक्त बन कर उन्हें अपने अधीन करना चाहते हैं। हमें यह समझ नहीं कि भगवान निष्काम भक्त के पराधीन होते हैं।

हमारे जीवन का यह विरोधाभास दूर हो जाए तो समझें कि प्रभु की

बहुत बड़ी कृपा है हम पर। साधारणतः हम प्रभु की कृपा का अनुभव तब करते हैं जब हमारे मन के अनुकूल कार्य हो। लेकिन वास्तव में प्रभु की बड़ी कृपा तब होती है जब हमारा मोह दूर हो जाए, हमारे संशय दूर हो जाए और हम यह कहें कि भगवान जैसा आप कहेंगे वैसा ही करूंगा। इस वाक्य में हमारी सारी कामनाएं और सम्पूर्ण अहंकार गल कर लुप्त हो जाता है- यही पूर्णता की स्थिति है, यही परम पद है, यही मोक्ष है, यही मुक्ति है, यही ब्रह्म प्राप्ति है।

इस प्रकार श्री कृष्ण और अर्जुन के संवाद का वर्णन करने के बाद अब उपसंहार करने के लिए भगवान वेदव्यास हमें धृतराष्ट्र के महल में ले चलते हैं जहां संजय सारा आख्यान धृतराष्ट्र को सुना रहे थे।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।।७४।।
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।७५।।
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।७६।।
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७।।

संजय ने कहा- इस प्रकार मैंने श्री वासुदेव और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत रहस्ययुक्त रोमांचकारी संवाद को सुना।

श्री व्यास जी की कृपा से (दिव्य दृष्टि पाकर) मैंने इस परम गोपनीय योग को अर्जुन के प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान से प्रत्यक्ष सुना है।

हे राजन्! भगवान श्री कृष्ण और अर्जुन के इस रहस्य युक्त, कल्याण कारक और अद्भुत संवाद को पुनः पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूं।

हे राजन्! श्री हरि के उस अत्यन्त विलक्षण रूप को भी पुनः पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूं।

इस प्रकार उपयुक्त चार श्लोकों में संजय के हृदय का जो भाव प्रकट होता है उसी से पता चलता है कि गीता को गोपनीय या रहस्ययुक्त क्यों कहा गया है और इसके अधिकारी भेद की चर्चा भगवान ने क्यों की।

भगवान श्री कृष्ण ने जो बातें अर्जुन को कही वे संजय ने भी सुनी और संजय के द्वारा धृतराष्ट्र ने भी सुनी। सब पर प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न है। अर्जुन मोहग्रस्त था किन्तु शरणागत था अतः गीता के इस अद्भुत व्याख्यान से उसका मोह दूर हो गया और वह युद्ध के लिए सिंहनाद कर उठा।

संजय ज्ञानी थे। वे किसी भी भ्रम में पड़े नहीं थे। इसलिए उनकी मनोदशा में ऐसा कोई अमूल परिवर्तन नहीं आया। उन्होंने यह संवाद अत्यन्त हर्ष के साथ सुना। हर्ष, प्रेम और सम्मान के अतिरेक से उनकी रोमावली खड़ी हो गई और स्वाभाविक ही उनके मन में इच्छा हुई कि धृतराष्ट्र भी अपने मोह को त्याग कर विवेकपूर्ण निर्णय ले। वे बार-बार श्री कृष्ण के लिए 'योगेश्वर' शब्द का उपयोग करके धृतराष्ट्र को चेताना चाहते थे कि यदि गीता के उपदेशों को पूर्णता से न समझ पाए हों तो भी इतना तो समझ ले कि साक्षात् भगवान अर्जुन के साथ खड़े हैं अतः उनसे युद्ध की बात सोचना निरा पागलपन है।

धृतराष्ट्र अंधे थे। केवल चर्म चक्षुओं से ही नहीं ज्ञान चक्षुओं से भी। वह जन्मांध ही नहीं मोहांध भी थे। मोह ने अंधा तो अर्जुन को भी कुछ देर के लिए बनाया पर उसकी भक्ति उसे बचा ले गई। धृतराष्ट्र को संजय से इतना सुन कर भी कुछ समझ नहीं आया। बंजर भूमि में कितना भी अनाज डालें, खेती होती नहीं, वही स्थिति धृतराष्ट्र की थी। इसीलिए कहते हैं कि गीताशास्त्र के श्रवण का लाभ पाना है तो पहले भगवान श्री कृष्ण से प्रेम करना सीखें।

धृतराष्ट्र ने कोई शुभ प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, किन्तु उस दिव्य ज्ञान

और रूप की स्मृति से संजय इतने अधिक हर्षित थे कि उनकी वाणी रुक नहीं रही थी। उन्होंने पाण्डवों की विजय को निश्चित बताते हुए कहा:-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।७८।।

जहां योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण है और जहां धनुर्धारी अर्जुन है वहां ही श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है- ऐसा मेरा मत है।

ऐश्वर्य, विजय और यश आदि कौन नहीं चाहता? प्रस्तुत श्लोक गीता का उपसंहार करते हुए बहुत सुन्दर संकेत देता है कि निश्चित रूप से ये सब कैसे मिल सकते हैं।

भक्ति के लिए प्रेम और श्रद्धा भरा हृदय होना आवश्यक है। ब्रह्म ज्ञान के लिए विवेक और वैराग्यपूर्ण बुद्धि होना जरूरी है। भक्त को श्री, विजय आदि की आकांक्षा नहीं होती। यह सब तो हम साधारण सांसारियों को चाहिए। सामान्यतः सभी इनके लिए प्रयत्न करते हैं कभी ये हाथ लगते नहीं, कभी लगने के बाद भी हाथ से फिसल जाते हैं।

परम ज्ञानी संजय सम्पूर्ण गीता का श्रवण करने के बाद अपना मत प्रकट कर रहे हैं और उसमें बता रहे हैं कि ये सब और इनके साथ अचल नीति भी कैसे मिलेगी। अवश्य ही हमें उनकी बात अच्छी तरह समझनी चाहिए। संजय कहते हैं कि जहां भगवान हों और जहां अर्जुन हो वहीं श्री, विजय, विभूति और ध्रुव नीति रहती है।

भगवान कृष्ण यानी परमात्मा क्या है इसका तो स्पष्ट निरूपण गीता में हर कोण से किया ही गया है। अर्जुन क्या है यह प्रत्यक्ष नहीं बताया गया है पर उसके चरित्र का अध्ययन करेंगे तो हमें स्पष्ट पता चल जाएगा।

अर्जुन नर है। ऐसा नर जो दुर्योधन की भांति मदान्ध नहीं है। वह धर्मराज युधिष्ठिर जैसा भी नहीं है, न भीष्म पितामह जैसा है। ये दोनों तो बड़े धर्मात्मा थे और साथ ही शूरवीर भी, लेकिन संजय ने उनका नाम नहीं

लिया। इन दोनों ने धर्म के विषय में अपना निश्चित मत बना रखा था और उस मत में वे इतने दृढ़ थे कि आगे-पीछे सोचने को तैयार ही नहीं थे। उनके निर्णय सही थे या गलत यह अलग विषय है पर मुख्य बात यह है कि वे भ्रमित नहीं थे।

अर्जुन को भले धर्म का इतना ज्ञान नहीं था पर वह खुले दिमाग वाला था। वह हर वस्तुस्थिति को विभिन्न कोणों से जांच-परख कर कदम उठाना चाहता था। मोहग्रस्त होकर जब प्रलाप कर रहा था तो उसके स्वर में भगवान के प्रति रोष भी था- 'तुमने तो जिन-जिन को मारा वे तो दुश्मन थे, उन्हें मारना कौन सा बड़ा काम था? मेरे सामने तो मेरे दुश्मन नहीं मेरे पितामह और गुरु हैं। ये मारने योग्य नहीं, पूजा करने के योग्य हैं। में कैसे लड़ूं इनसे? तुम मुझे नपुंसक क्यों कहते हो?' उसने न लड़ने के नाना तर्क दिए, लेकिन इन सबके बावजूद वह यह मानने को तैयार था कि शायद मेरा सोचना गलत हो। इस तरह तर्क देते हुए अपनी बात पर जो अकड़े नहीं रहते वे ही कुछ नया सीख-जान सकते हैं।

अर्जुन का दूसरा गुण था कल्याण की कामना। यह बात सच है कि मोह उसे अपने स्वजनों को देखकर ही हुआ था वर्ना वह ऐसी-ऐसी बातें नहीं करता, सीधा युद्ध में भिड़ जाता। फिर भी उसके वक्तव्यों से यह स्पष्ट है कि उसे रंच मात्र भी राज्य लिप्सा नहीं थी। वह अपने और अपने परिवार का स्वार्थ नहीं देख रहा था, वह कल्याण चाहता था। सबके भले के साथ-साथ अपना भला हो तब वह कल्याणकारी होता है। ऐसी दृष्टि रखने वाले कम होते हैं। साधारणत: एक का नुकसान ही दूसरे का लाभ होता है पर ऐसे संगठन टिकाऊ नहीं होते। व्यापार उसी का अच्छा चलता है जो ग्राहकों का हित देखते हुए ही अपना हित चाहे।

अर्जुन का तीसरा गुण था कर्मठता और कौशल जिसके लिए यहां संजय ने धनुर्धारी शब्द प्रयोग किया है, जो बड़ा महत्वपूर्ण है। भगवान पर छोड़छाड़ कर अकर्मण्य हो जाने वाले को श्री, विजय, यश आदि नहीं मिला करते। अपनी कर्मठता, अपना कौशल अत्यन्त आवश्यक है। भगवान के संकल्प से ही महाभारत का भीषण नरसंहार हुआ लेकिन भगवान ने अर्जुन के तीर तो लगवाए ही। 'मैं' इनको मार चुका हूं। यह स्पष्ट घोषणा कर देने

के बाद भी यह कहा- हे सव्यसाची, तुम निमित्त बनो।

अर्जुन का सर्वोपरि गुण था श्री कृष्ण के प्रति उसका अंतरंग प्रेम, उसकी अविचल भक्ति, उसकी अटूट श्रद्धा, उसकी अनन्य शरणागति। ऐसा अद्‌भुत प्रेम था उसका कि उसे जरा भी गुमान तक नहीं था कि श्री कृष्ण साक्षात् परमश्वर हैं, फिर भी युद्ध जैसे भीषण समय में भी उस काल की सर्वश्रेष्ठ नारायणी सेना के बदले उसने भगवान को ही चुना- मुझे तो केशव तुम्हारी ही चाह है। अपने दिल को टटोल कर देखें तो पाएंगे कि हमें भगवान की चाह तो है, पर सांसारिक कष्ट, पराजय और मृत्यु की रिस्क पर कदापि नहीं।

अर्जुन के इन्हीं गुणों ने भगवान श्रीकृष्ण को उसके साथ, उसका सारथि बना खड़ा कर दिया। संजय कहते हैं जहां श्री कृष्ण और अर्जुन दोनों हों वहां ऐश्वर्य, यश, विजय के साथ-साथ ध्रुवनीति अर्थात् न्याय भी रहता है। वहां विजय न्यायपूर्ण तरीके से मिलती है- वहां ऐश्वर्य न्यायपूर्ण साधनों से मिलता है और यश भी सुयश होता है।

हम संसार में कर्म करने के लिए पूरी कुशलता अर्जित करें, अपनी कुशलता का भरपूर उपयोग करें, आलस्य या प्रमाद के वश में न हों, अकर्मण्य होने की न सोचें, पर अभिमान न रहे। भगवान की याद, उनके प्रति समर्पण का भाव सदा बना रहे और यह विचार बना रहे कि मेरे जीवन के सारथि तो भगवान हैं वे जिधर चाहें मुझे ले जाएं, मुझे स्वीकार है। समस्त कर्म स्वयं करते हुए सफलता को प्रभु की कृपा मानें तो जीवन के सुख-चैन की कुंजी हमारे हाथ में है। गीता में वर्णित व्यवहारिक उपायों को अपना कर हम अपना इहलोक भी सुन्दर बना सकते हैं और परलोक भी सुधार सकते हैं।

इस प्रकार श्री कृष्ण अर्जुन संवाद में मोक्ष संन्यास योग नामक अठारहवां अध्याय पूर्ण हुआ।

व्यवहार और परमार्थ दोनों की कला साथ-साथ सिखाने वाली

गीता माता को शत-शत नमन।

नमन करूं मैं गुरु चरणम्। दुस्तर भवसागर तरणम्।

ॐ तत् सत्